श्रीकृष्ण-सन्देश
वर्ष : ८
अंक : ५
विनाशाय च दुष्कृताम्

नीतिवचनामृत

अभ्रच्छाया खलप्रीतिर्नवसस्यानि योषितः।
किञ्चित्कालोपभोग्यानि यौवनानि धनानि च ॥ १ ॥

घन - छाया खल-नेह अरु नवल सस्य - संजोग।
तिय यौवन धनको सुलभ अलप-काल उपभोग ॥

स्थानमुत्सृज्य गच्छन्ति सिंहाः सत्पुरुषा गजाः।
तत्रैव निधनं यान्ति काकाः कापुरुषा मृगाः ॥ २ ॥

हाथी सज्जन सिंहहू स्थान छोड़ि चलि जांय।
कायर कौआ मृग जहां जनमत तहं मरि जांय ॥

अल्पानापि वस्तूनां संहतिः कार्यसाधिका।
तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्बध्यन्ते मत्तदन्तिनः ॥ ३ ॥

संहति अल्पहु वस्तुकी सदा सँवारति काज।
रज्जुरूप कछु तृनन सों बँधत मत्त गजराज ॥

नाद्रव्ये निहिता काचित् क्रिया फलवती भवेत्।
न व्यापारशतेनापि शुकवत् पाठ्यते बकः ॥ ४ ॥

सफल होति काहू क्रिया नहि अद्रव्य पहं जाइ।
सौ जतनन हू को बकहिं सुकवत सकत पढ़ाइ ॥

श्रीकृष्ण-सन्देश

धर्म, अध्यात्म, साहित्य एवं संस्कृति-प्रधान मासिक

प्रवर्तक

ब्रह्मलीन श्री जुगलकिशोर बिरला

सम्मानित

● सम्पादक-मण्डल

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी

विश्वम्भरनाथ द्विवेदी

डॉ० भगवान् सहाय पचौरी

● सम्पादक

पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

गोविन्द नरहरि वैजापुरकर

संख्या ●

वर्ष : ८, अङ्क : ५

दिसम्बर, १९७२

श्रीकृष्ण-संवत् : ५१९८

शुल्क ●

वार्षिक : ७ रु०

आजीवन : १५१ रु०

प्रबन्ध-सम्पादक

देवधर शर्मा

: प्रकाशक :

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा

दूरभाष : ३३८

'श्रीकृष्ण-सन्देश' के उद्देश्य तथा नियम

उद्देश्य : धर्म, अध्यात्म, भक्ति, साहित्य एवं संस्कृति-सम्बन्धी लेखों द्वारा जनताको सुपथपर चलनेकी प्रेरणा देना और जनमानसमें सदाचार, सद्विचार, राष्ट्रप्रेम, आस्तिक्य, समाजसेवा, सर्वाङ्गीण समुन्नति तथा युगके अनुरूप द तव्यबोध जाग्रत् करना 'श्रीकृष्ण-सन्देश' का शुभ उद्देश्य है।

• नियम : उद्देश्यमें कथित विषयोंसे संबद्ध श्रुति, स्मृति, पुराण आदिके अविरुद्ध तथा आक्षेपरहित एवं लोककल्याणमें सहायक लेख ही इस पत्रिकामें प्रकाशित होते हैं। लेखोंमें काट-छांट, परिवर्तन-परिवर्धन आदि करने अथवा उन्हें न छापनेका संपूर्ण अधिकार सम्पादकको है। अस्वीकृत लेख बिना मांगे नहीं लौटाये जाते। वापसीके लिए टिकट भेजना अनिवार्य है। लेखमें प्रकाशित विचारके लिए लेखक ही उत्तरदायी है, सम्पादक नहीं।

लेखक उद्देश्यमें निर्दिष्ट विषयपर ही उत्तम विचारपूर्ण लेख भेजें। लेख स्वच्छ और सुपाठ्य अक्षरोंमें कागजके एक पृष्ठपर बायें हाशिया छोड़कर लिखा होना चाहिए। लेखका कलेवर अधिक बड़ा न रहे। सामग्री सुन्दर, सामयिक तथा प्रेरणाप्रद हो। लेख 'सम्पादक' 'श्रीकृष्ण-सन्देश' रू० नं० ६, केलगढ़ कालोनी, जगतगंज, वाराणसीके पतेपर भेजें।

• 'श्रीकृष्ण-सन्देश' अगस्त माससे प्रारम्भ होकर प्रत्येक मासकी पहली तारीखको प्रकाशित होता है, इसका वार्षिक मूल्य ७) है। जो लोग एक सौ इक्यावन रुपये एक साथ एकबार जमा कर देते हैं, वे इसके आजीवन ग्राहक माने जाते हैं। उन्हें उसी चन्देमें उनके जीवनभर 'श्रीकृष्ण-सन्देश' मिलता रहेगा।

ग्राहकको अपना नाम पता सुस्पष्ट लिखना चाहिए। ७) चंदा मनिआर्डर द्वारा अग्रिम भेजकर ग्राहक बनना चाहिए। वी० पी० द्वारा अंक जानेमें अनावश्यक विलम्ब तथा व्यय होता है।

• विज्ञापन : इसमें उत्तमोत्तम समाजोपयोगी वस्तुओंका ही विज्ञापन दिया जाता है। अश्लील, जादू-टोने आदि तथा मादक द्रव्योंके विज्ञापन नहीं छपते। विज्ञापन पूरे पृष्ठपर छपनेके लिए ५००) रुपये तथा आधे पृष्ठपर छपनेके लिए ३००) रुपये भेजना अनिवार्य है।

पत्र-व्यवहारका पता :

व्यवस्थापक—'श्रीकृष्ण-सन्देश'

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ

मथुरा

अनुक्रम

मासिक व्रत, पर्व एवं महोत्सव

[संवत् २०२९ अगहन शुक्ल त्रयोदशी सोमवार १८-१२-'७२ से पौष शुक्ल दशमी रविवार १४-१-'७३ तक]

दिसम्बर : १९७२ ई०

दिनाङ्क	वार	व्रत-पर्व
१८	सोमवार	सोमप्रदोष व्रत (१३)।
१९	मंगलवार	व्रतके लिए पूर्णिमा, दत्तात्रेयावतार।
२०	बुधवार	अगहनकी पूर्णिमा (स्नान-दानके लिए)।
२३	शनिवार	संकष्टी गणेश ४ व्रत।
२५	सोमवार	मदनमोहन मालवीय-जयन्ती।
२७	बुधवार	अष्टका-श्राद्ध।
३१	रविवार	सफला एकादशी व्रत (सबके लिए)।

जनवरी : १९७३ ई०

दिनाङ्क	वार	व्रत-पर्व
१	सोमवार	सोमप्रदोष व्रत (१२)।
२	मंगलवार	मास-शिवरात्रि व्रत (१३)।
४	गुरुवार	पौष-अमावस्या (स्नान, दान, श्राद्ध आदिके लिये)।
८	सोमवार	वैनायकी गणेश ४ व्रत।
१४	रविवार	मकर-संक्रान्ति-जन्य पुण्यकाल।

●

श्रीकृष्ण-जन्म स्थान :

प्रत्यक्षदर्शियोंके भावभीने शब्द-सुमन

(दिसम्बर १९७२)

भगवान् श्रीकृष्णकी पावन जन्मस्थलीके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस भूमिके दर्शनसे ही इसकी अलौकिक स्थितिका भान होने लगता है। यह मथुरा नगरीकी सबसे ऊँची भूमि है। इसकी स्थूल उच्चता भी उस दिव्यातिदिव्य उच्च-भावका दर्शन कराती है, जिससे आकृष्ट होकर भगवच्चैतन्य यहां उतर आया था। कंसके राज्यसे लेकर औरंगजेबके शासनकाल तक इस भूमिको अनेक बार दुर्दान्त दस्युओंके उत्पीडनका दुर्दिन देखना पड़ा हैं। परन्तु कंसका विध्वंस तो स्वयं भगवान्ने ही कर दिया और अन्य आक्रमणकारी भी यहाँ अत्याचार करके कालके गालमें चले गये; परन्तु यह दिव्य भूमि आज भी पूर्ववत् अपनी दिव्यता लिये यहाँ उद्दीप्त हो रही है। यह स्थान कभी कंसका कारागार था, परन्तु भगवान्के जन्म लेनेसे दिव्य धाम बन गया। बन्दी-गृहके स्थानपर मन्दिरका निर्माण हो गया। मदान्ध विधर्मियोंने अनेक बार यहाँके मन्दिर गिराये, परन्तु भगवत्प्रेरणासे यहाँके आस्तिक नरेशोंने पुनः पहलेसे भी दिव्य नूतन मन्दिर खड़े कर दिये। औरंगजेबने मन्दिर गिराकर मसजिद बनवा दी; तबसे कुछ काल तक यह स्थान उपेक्षित पड़ा रहा। फिर इतिहासने तेवर बदले। महामना मदन-मोहनमालवीयजी तथा श्री जुगलकिशोर बिरला आदि महापुरुषोंके उद्योगसे इस भूमिपर नव-निर्माण-कार्य आरम्भ हुआ है और अब इसका कायापलट होता जा रहा है। खुदाईसे यहाँ पुराने मन्दिरका वह चबूतरा प्रकट हो गया है, जिसपर पहले भगवद्विग्रहकी प्रतिष्ठा हुई थी। वहाँ नये विग्रह पधरा दिये गये हैं। एक नूतन मन्दिरका भी निर्माण हो गया है, जिसमें भगवान् केशव-देवका बहुत मनोरम विग्रह स्थापित है। धर्मशाला, भागवत-भवन और अन्तरराष्ट्रीय अतिथि-गृह-इस भूमिकी शोभा बढ़ाते हैं। भागवत-भवनके साथ इस स्थानको बनाने-संवारनेमें सहयोगियों सहित श्री जयदयालजी डालमियाका सर्वाधिक हाथ है। दूसरे लोगोंको भी उनका अनुकरण करना चाहिये। कार्य-व्यवस्थाकी संभाल श्री पं० देवधर शर्मा बड़ी खूबीके साथ करते हैं।

इस स्थानकी दिनों-दिन उन्नति हो रही है। दाताओंको यहाँ धन देकर अपनी धनराशिका सदुपयोग करना चाहिए। सामान्य जनताको भी इस पुण्य कार्यमें पीछे नहीं रहना चाहिए।

रामनारायण दत्त पाण्डेय
वाराणसेय, सं० वि० विद्यालय, वाराणसी।

Devotion to divinity can not be sincere unless her offer or suffer as evidence there of.

Who ever contributes to the construction of this great & holy edifice, offers something as evidence of his devotion.

K. Hanuman thaiya
EX. Rly. Minister
Kengal Krupa
B:kary Road
BANGALORE-6

I am impressed by the beauty & tranquility of this place; the brithplace of Lord Krishna may all the prayers said here contribute to the peace & happiness of the whole world.

Prof. William Watson
University of London

To who it may concern :

After Visiting the birthplace of Lord Krishna, I must say how much I was deeply impressed. May Lord Krishna bless the entire world with us fracious Blessings. On behalf of myself & my family I say thanks to all my fellow ?

Pt. Hardatt a
Caratal, viasangr, Grande,
W. Indies
Pohl of Spain

वर्ष : ८] मथुरा : दिसम्बर, १९७२ [अङ्क : ५

स्थितप्रज्ञ

जिसकी बुद्धि समत्वमें स्थिर हो वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है। उसकी पहचान इस प्रकार समझो। जब मनुष्य अपने मनको सारी कामनाओंको त्याग देता और अपने-आपमें ही सन्तुष्ट रहता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है। दुःख प्राप्त होनेपर जिसके मनमें उद्वेग न हो, सुख मिलनेपर तद्विषयक तृष्णा न बढ़े और राग, भय एवं क्रोध सर्वथा दूर हो गये हों, वह स्थितप्रज्ञ मुनि कहा जाता है। जो सर्वत्र स्नेह (आसक्ति) से रहित हो गया है, शुभको पाकर हर्षसे फूल नहीं उठता और अशुभको पाकर उससे द्वेष नहीं करता है, उसकी बुद्धि सुस्थिर है। जैसे कछुआ भयके कारण अपने सब अङ्गोंको संकुचित कर लेता है; उसी तरह जब यह सिद्ध पुरुष सम्पूर्ण विषयोंकी ओरसे अपनी इन्द्रियोंको खींच लेता है, तब उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित समझी जाती है। यद्यपि उपवास करनेवाले पुरुषके भी विषय निवृत्त हो जाते हैं; किन्तु उन विषयोंके प्रति उसका राग नहीं निवृत्त होता है, परन्तु इस ज्ञानी पुरुषका वह राग भी परमात्म-सक्षात्कार करनेके कारण निवृत्त हो जाता है; अतः बुद्धिको अवश्य स्थिर करना चाहिए। इन्द्रियाँ यत्नशील पुरुषके भी मनको हठात् हर लेती हैं, अतः उनका संयम करके मेरे परायण हो जाय। जिसकी इन्द्रियाँ वशमें हों उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है। विषयचिन्तनसे आसक्ति, आसक्तिसे काम, कामसे क्रोध, क्रोधसे संमोह, संमोहसे स्मरण-शक्तिका नाश और उससे बुद्धिका नाश हो जाता है। बुद्धिनाशसे मनुष्य स्वतः नष्ट हो

जाता है—पुरुषार्थ-साधनके योग्य नहीं रह जाता है। जो राग-द्वेषसे रहित एवं अपने वशीभूत इन्द्रियों द्वारा अनिषिद्ध विषयोंका सेवन करता हुआ मनको अधीन रखता है, वह प्रसादको प्राप्त होता है। प्रसादको प्राप्त होने पर उसके सम्पूर्ण दुःखोंका नाश हो जाता है; क्योंकि उस प्रसन्नचेता पुरुषकी बुद्धि सुस्थिर हो जाती है।

जिसका अन्तःकरण अयुक्त (असमाहित) है उसमें आत्मस्वरूप-विषयक बुद्धि नहीं होती है, भावना भी नहीं होती है। भावना-हीनको शान्ति नहीं मिलती और अशान्तको सुख कहाँसे सुलभ होगा ? अपने-अपने विषयोंमें विचरनेवाली इन्द्रियोंमेंसे जिसके साथ मन हो जाता है, उस इन्द्रियसे युक्त वह मन इस साधककी बुद्धिको हर लेता है; जैसे हवाका झोंका नदीमें नावको उलट देता है। अतः जिसकी इन्द्रियाँ सर्वथा विषयोंकी ओरसे अवरुद्ध हैं, उसीकी बुद्धि प्रतिष्ठित होती है। जो समस्त प्राणियोंके लिये निशारूप (परमार्थ तत्त्व) है, उसमें संयमी पुरुष जागता है और जिसमें सम्पूर्ण भूत जागते हैं, वह ज्ञानी मुनिकी रात है। जैसे नदियोंके जल समुद्रमें कोई विकार उत्पन्न किये विना ही समाजाते हैं, उसी तरह सम्पूर्ण कामनाएँ जिस पुरुषमें प्रवेश कर जाती और विकार नहीं पैदा करती हैं वह शान्तिको पाता है, कामनाओंका कामुक शान्ति नहीं पाता है। जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर निस्पृह-भावसे विचरता है और ममता एवं अहंकारसे ऊपर उठ जाता है, वही शान्तिको पाता है। इस अवस्थाको ब्राह्मी स्थिति कहते हैं, इसे पाकर कोई मोहके वशीभूत नहीं होता है और अन्तकालमें भी उसमें स्थिति हो जानेपर मनुष्य ब्रह्म-निर्वाणको प्राप्त कर लेता है।

●

भगवान्‌का प्रिय

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः॥

जो शत्रु और मित्रमें भी एक ही भगवान्‌को स्थित देख दोनोंके प्रति समभाव रखता है; मान हो या अपमान, उसे भगवान्‌का दिया प्रसाद मानकर समभावसे ग्रहण करता है; सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंके प्राप्त होनेपर जिसका मानसिक संतुलन ठीक रहता है; जो अनावश्यक न बोलकर चुप रहता है; जो मिल जाय उसीसे सन्तुष्ट रहता है; कहीं किसी मठ या आश्रममें आसक्त नहीं होता तथा जिसकी बुद्धि स्थिर होती है, वही भक्त मनुष्य मुझे प्रिय लगता है। (गीता, १२. १८-१९)

चीर-हरण या लज्जा-रक्षण ?

बिहँस उठी ऋतु सुखद सुहासिनी।
झर रही सुधा सुधांशुकी किरन,
बरस रहे हरसिंगारके सुमन।
गमक उठी कुंज-कुंजकी गली,
चमक उठी कंज-कुमुदकी कली।
स्नानको कालिन्दजाके नीरमें गाँव-गाँवकी चली सुवासिनी ॥१॥
गा रहीं गोविन्दकी गुणावली,
हो रहीं सनेह-सिक्त बावली।
चन्द्रकी तलाश थी चकोरको,
खोज रहीं नन्दके किशोरको।
ध्वान्तका करोंसे हटा आवरण, झाँकने लगी उषा प्रकाशिनी ॥२॥
चातकी चपल सिहर-सिहर उठे,
प्रीतिकी प्रबल पुकार कर उठे।
त्याग शोक कोक समुद मिल गये,
जल अगाधमें सरोज खिल गये।
घाट-घाट, राह-बाट, वृक्ष पर, हँस रही मिहिर-विभा विभासिनी ॥३॥
एक सखीने प्रहास-सा किया,
आलियोंका वस्त्र सब उठा लिया।
ओटमें कदम्बके छिपा दिया,
छिप गयी स्वयं भी मौन-सा लिया।
स्नानकर वसन वहाँ न जब मिला, डर गयीं व्रजेन्द्र-गोष्ठवासिनी ॥४॥
देख रहे श्याम यह सुदूरसे,
चित्तमें भरे प्रमोद-पूरसे।
आ गये तुरन्त वस्त्र ला दिया,
गोपियोंकी लाजको बचा लिया।
प्रीतिसे कृतज्ञतासे नत सभी हो गयीं प्रसन्न चारु-हासिनी ॥५॥

'राम'

गीतोपदेशका मर्म

श्री अरविन्द

★

कुछ लोगोंका कहना है कि 'गीतामें कर्मोंकी शिक्षा नहीं है।' वे इसकी शिक्षाको संसार और सब कर्मोंके संन्यासके लिए तैयार करनेवाली एक साधना मानते हैं। नियत कर्मोंको अथवा जो कोई कर्म सामने आ पड़े, उसको उदासीन होकर करना ही साधन या साधना है। संसार और सब कर्मोंका अंतमें संन्यास ही एकमात्र साध्य है। गीतासे ही जहाँ-तहाँके श्लोक लेकर और उसीकी विचार-पद्धतिमें जहाँ-तहाँ थोड़ी खींचतान करके इस बातको प्रमाणित करना सरल है। जब गीतामें संन्यास-शब्दके विशेष प्रयोगकी ओरसे हम आँखें फेर लेते हैं तब तो यह काम और भी आसान हो जाता है। किन्तु इस मतका आग्रह तब नहीं ठहर पाता जब कोई पक्षपातरहित होकर देखता है कि ग्रन्थमें अन्त तक बार-बार यही कहा जा रहा है कि 'अकर्मकी अपेक्षा कर्म ही श्रेष्ठ है और कर्मकी श्रेष्ठता इस बातमें है कि उसमें वास्तविक रूपसे समत्व द्वारा कामनाका आंतरिक त्याग करके कर्म परम पुरुषको अर्पण करना होता है।'

फिर कुछ लोग कहते हैं कि 'गीताका संपूर्ण अभिप्राय भक्ति-तत्त्वका प्रतिपादन है। ये लोग गीताके अद्वैत तत्त्वोंकी और उसमें सबके एक आत्मा ब्रह्ममें शान्तभावसे निवास करनेकी स्थितिको जो ऊँचा स्थान दिया गया है उसकी अवहेलना करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि गीतामें भक्तिपर बड़ा जोर दिया गया है, बार-बार इस बातको दुहराया गया है कि भगवान् ही ईश्वर और पुरुष हैं। फिर गीताने पुरुषोत्तम-सिद्धान्त भी स्थापित कर यह स्पष्ट कर दिया है कि भगवान् पुरुषोत्तम हैं, उत्तम पुरुष हैं अर्थात् क्षर पुरुषसे परे और अक्षर पुरुषसे भी श्रेष्ठ हैं। वे वही हैं जिन्हें जगत्के सम्बन्धसे हम ईश्वर कहते हैं। गीताकी ये सब बातें बड़े मार्केकी हैं, मानो उसकी जान हैं। तथापि यह ईश्वर वह आत्मा है, जिसमें संपूर्ण ज्ञानकी परिपूर्ति होती है। ये ही यज्ञके प्रभु हैं, सब कर्म हमें इन्हींके पास ले जाते हैं। ये ही प्रेममय स्वामी हैं जिनमें भक्त-हृदय प्रवेश करता है। गीता कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनोंमें सन्तुलन रखती है। अवश्य ही वह कहीं ज्ञानपर जोर देती है, कहीं कर्मपर तो कहीं भक्तिपर, पर यह जोर उसके तात्कालिक विचार-प्रसंगसे सम्बन्ध रखता है, इस मतलबसे नहीं कि इनमें-से कोई किसीसे सर्वथा श्रेष्ठ या कनिष्ठ है। जिन भगवान्में ये तीनों मिलकर एक हो जाते हैं, वे ही परम पुरुष, पुरुषोत्तम हैं।

किन्तु आजकल, अर्थात् जबसे आधुनिकोंने गीताको मानना और उसपर कुछ विचार करना आरम्भ किया है, तबसे लोगोंका झुकाव गीताके ज्ञानतत्त्व और भक्तितत्त्वको गौण मानकर, उसके कर्म-विषयक लगातार आग्रहका लाभ उठाकर उसे एक कर्मयोग-शास्त्र, कर्म-मार्गमें ले जानेवाला प्रकाश, कर्म-विषयक सिद्धान्त ही माननेकी ओर दिखायी देता है। इसमें सन्देह नहीं कि गीता कर्म-योग-शास्त्र है, पर उन कर्मोंका, जो ज्ञान अर्थात् आध्यात्मिक सिद्धि और शान्तिमें परिसमाप्त होते हैं; उन कर्मोंका, जो भक्ति-प्रेरित हैं। अर्थात् यह वह ज्ञानयुक्त सचेतन शरणागति है जिसमें भक्त कर्मी अपने आपको पहले भगवान्के हाथोंमें सौंप देता है, फिर भगवान्की सत्तामें प्रवेश करता है। यह उन कर्मोंका शास्त्र निश्चय ही नहीं है, जिन्हें आधुनिक मन कर्म मान बैठा है। उन कर्मोंका बिलकुल नहीं, जो अहंकार और परोप-कारके भावसे किये जाते हैं या जो वैयक्तिक, सामाजिक और भूतदयाके विचारों, सिद्धान्तों और आदर्शोंसे प्रेरित होते हैं। फिर भी गीताके आधुनिक टीकाकार यह दिखाना चाहते हैं कि गीतामें कर्मका आधुनिक आदर्श ग्रहण किया गया है।

× × ×

गीताका परम वचन, गीताका महावाक्य क्या है, सो ढूंढ़कर नहीं निकालना है; गीता स्वयं ही अपने अन्तिम श्लोकोंमें उस महान् संगीतका परम स्वर घोषित करती है :

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।
सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

—गीता १८.६२-६६

अर्थात् 'अपने हृद्देशस्थित भगवान्की सर्वभावसे शरण ले; उन्हींके प्रसादसे तू परा शान्ति और शाश्वत पदको प्राप्त करेगा। मैंने तुझे गुह्यसे भी गुह्यतर ज्ञान बताया है। अब उस गुह्यतम ज्ञानको, उस परम वचनको सुन, जो मैं अब बतलाता हूं। मेरे मनवाला हो जा, मेरा भक्त बन, मेरे लिए यज्ञ कर और मेरा नमन-पूजन कर; निश्चय ही तू मेरे पास आयेगा, क्योंकि तू मेरा प्रिय है। सब धर्मोंका परित्याग कर मुझ एककी शरण ले। मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त कर दूंगा; शोक मत कर।'

गीताका प्रतिपादन अपने आपको तीन सोपानोंमें बांट लेता है, जिनपर चढ़कर कर्म मानवस्तरसे ऊपर उठकर दिव्य-स्तरमें पहुंच जाता है। वह उच्चतर धर्मकी मुक्तावस्थाके

लिए नीचेके धर्म-बन्धनोंको नीचे ही छोड़ जाता है। पहले सोपानमें मनुष्य कामनाका त्याग-कर पूर्ण समताके साथ अपनेको कर्ता समझता हुआ यज्ञरूपसे कर्म करेगा। यह यज्ञ वह उन भगवान्के लिए करेगा, जो परम हैं और एकमात्र आत्मा हैं, यद्यपि अभीतक उसने इनका स्वयं अपनी सत्तामें अनुभव नहीं किया है। यह आरम्भिक सोपान है। दूसरा सोपान है केवल फलेच्छाका त्याग नहीं, बल्कि कर्ता होनेके भावका भी त्याग और यह अनुभूति कि आत्मा सम, अकर्ता, अक्षर तत्त्व है। सब कर्म विश्व-शक्ति प्रकृतिके हैं जो विषम, कर्त्री और क्षर शक्ति है। अन्तिम सोपान है, परम आत्माको वह परम-पुरुष जान लेना जो प्रकृतिके नियामक हैं। प्रकृतिगत जीव उन्हींकी आंशिक अभिव्यक्ति है। वे ही अपनी पूर्ण परात्पर स्थितिमें रहते हुए प्रकृति द्वारा सारे कर्म कराते हैं। प्रेम, भजन, पूजन और कर्मोंका यजन सब उन्हींको अर्पित करना होगा। अपनी सारी सत्ता उन्हींको समर्पित करनी होगी और अपनी सारी चेतनाको ऊपर उठाकर उस भागवत-चैतन्यमें निवास करना होगा जिसमें मानव जीव भगवान्की प्रकृति और कर्मोंसे परे स्थित दिव्य परात्परताका भागी हो सके और पूर्ण आध्यात्मिक मुक्तिकी अवस्थामें रहते हुए कर्म कर सके।

प्रथम सोपान है कर्मयोग, भगवत्प्रीतिके लिए निष्काम कर्मोंका यज्ञ। यहाँ गीताका जोर कर्मपर है। द्वितीय सोपान है ज्ञानयोग, आत्म-उपलब्धि, आत्मा और जगत्के सत्स्वरूपका ज्ञान। यहाँ उसका ज्ञानपर जोर है, पर साथ-साथ निष्काम कर्म भी चलता रहता है। यहाँ कर्ममार्ग और ज्ञानमार्गके साथ एक हो जाता है, पर उसमें घुल-मिलकर अपना अस्तित्व नहीं खोता। तृतीय सोपान है भक्तियोग, परमात्माकी भगवान्के रूपमें उपासना और खोज। यहाँ भक्तिपर जोर है, पर ज्ञान भी गौण नहीं। वह केवल उन्नत हो जाता है, उसमें एक जान आ जाती है और वह कृतार्थ हो जाता है। फिर भी कर्मोंका यज्ञ जारी रहता है; द्विविध मार्ग यहाँ ज्ञान, कर्म और भक्तिका त्रिविध मार्ग बन जाता है। तब यज्ञका एकमात्र फल, जो साधकके सामने ध्येय रूपसे अभी तक रखा हुआ है, प्राप्त हो जाता है। अर्थात् भगवान्के साथ योग और परा भागवती प्रकृतिके साथ एकत्व प्राप्त हो जाता है।

भगवत्प्राप्ति कैसे हो ?

राग, भय और क्रोधको मनसे निकल फेंको। भगवन्मय हो जाओ। केवल भगवान्की शरण लो। बहुत-से मनोपियोंने ऐसा ही किया है। वे ज्ञान-तपसे पवित्र हो भगवान्को प्राप्त कर चुके हैं। (गीता ४।१०)

गीतातत्त्व-दर्शन

श्री शिवेन्द्रप्रसाद गर्ग 'सुमन'

★

जब तक हम साधारण पदार्थोंके प्रति निःस्वार्थ भावका अनवरत अभ्यास नहीं करते, तबतक सुख और दुःखके प्रति उपेक्षा बरतना कठिन है। हम सफलता एवं विफलतासे विचलित न हों। सुख एवं दुःखको एक दूसरेका पूरक मानें एवं उन्हें अस्थायी मानकर समत्वभावसे ग्रहण करें। भौतिक संसर्ग सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख उत्पन्न करता है। ये संवेदनाएँ अनित्य हैं, आती और चली जाती हैं। इनमें वास्तविकता नहीं होती और न इनका आत्मापर ही कोई प्रभाव पड़ता है। हम इनसे विचलित न हों और सुख-दुःखमें समभावसे रहें। (गीता २.३८)

मनुष्यके अपने विचार एवं कर्म ही उसको आत्माके भवितव्यपर असर डालते हैं, बाहरसे आनेवाले सुख दुःख नहीं। सच्चा सुख संसर्गजन्य आनन्दसे नहीं, वरन् आत्मसंयमसे प्राप्त होता है। जो सुख संस्पर्शसे उत्पन्न होते हैं, वे दुःखोंके मूल बन जाते हैं। वे आदि और अन्त वाले हैं। बुद्धिमान् उनमें सुखका अनुभव नहीं करते। (५।२२) मनका यह समत्व प्राप्त करनेके पूर्व सर्वकर्मोंको निःस्वार्थभावसे करनेका अभ्यास आवश्यक है। गीताके (६.३) के अनुसार योग-साधनके इच्छुक मुनिके लिए कर्तव्य पालन साधन बताया गया है। योगारूढ़ हो जानेपर उनके लिए शम साधन कहा गया है।

कहते हैं : मनुष्य आत्मासे आत्माकी उन्नति करे और आत्माको दुर्बल न होने दे। वस्तुतः आत्मा ही आत्माका एकमात्र बन्धु है और आत्मा ही आत्माका शत्रु भी है। जिसने आत्मनिग्रह द्वारा अपने मनपर विजय प्राप्त कर ली है, उसका मन उसका बन्धु है और जिसने अपने मनपर शासन करना नहीं सीखा, वह अपना ही घोर शत्रु बन जाता है। (६.५-६)

कर्मयोगकी साधना अर्थात् स्वार्थकामनासे रहित होकर, सफलता-विफलतासे उद्विग्न हुए बिना अपने नियत कर्तव्यकी साधनाके उपरान्त ही संसारका त्याग करना चाहिए। गीता (६.१७) के अनुसार 'योग, जो दुःखका नाशक है, उसके लिए है, जो आहार-विहार या अन्य कर्मों—सोने जागनेमें संयत और नियमित रहता है। योग उसके लिए नहीं है; जो बहुत खाता है और न उसके लिए ही है, जो पूरी तरह उपवास करता है। वह बहुत सोनेवाले या बहुत जागनेवालेके लिए भी नहीं है।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

तपस्या आदि समस्त कार्योंमें मध्यममार्गका आग्रह ध्यानमें रखना चाहिए । सफलताका रहस्य तपस्याकी अतिकठोरतामें नहीं, विचारोंको वशमें करनेकी निरन्तर साधनामें है। जो 'निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुख क्षमी !' है : वही भक्त भगवान्‌को प्यारा है। जो दूसरे प्राणियोंको उद्विग्न नहीं करता और जो स्वयं संसारसे उद्विग्न नहीं होता, जो हर्ष, क्रोध एवं भयके उद्वेगोंसे मुक्त है, वही उन्हें प्यारा है। जो शत्रु-मित्र, मानापमान, शीत-उष्ण और सुख-दुःखके प्रति मनमें समानभाव रखता है, जिसने आसक्तिका त्याग कर दिया है, जो इच्छारहित, पवित्र, दक्ष है और उदासीन है और जिसने समस्त सांसारिक संकल्पोंका त्याग कर दिया है, जो राग या द्वेष नहीं करता, जो किसी वस्तुके लिए शोक अथवा उसकी कामना नहीं करता, जिसने शुभ-अशुभका विचार छोड़ दिया है—ऐसा भक्त ही भगवान् श्रीकृष्णको प्रिय होता है। (गीता अ० १२ श्लोक १६-१७) ।

बुद्धिमान् पुरुष निरन्तर सत्यका स्मरण करता हुआ स्वयंकी रक्षा करता है । वह अपनी प्रकृतिके बदलते हुए भावोंसे अशान्त नहीं होता । जो सुख और दुःखका समान स्वागत करता है, स्वस्थ रहता है, मिट्टीके ढेले, पत्थर और सोनेको समान समझता है, प्रिय और अप्रियमें भेद नहीं करता और निन्दा स्तुतिमें समान रहता है, जो मान तथा अपमानमें एक ही भाव रखता है, मित्र और शत्रुको एक ही दृष्टिसे देखता है, जिसने समस्त सांसारिक समारम्भ त्याग दिये हैं, वह गुणातीत बताया गया (१४.२४-२५) है ।

प्रत्येक कार्यके पीछे ईश्वर होता है और वही सच्चा कर्ता है। परमेश्वरकी इच्छा तथा उसके संकल्प यद्यपि प्राकृतिक नियमों द्वारा कार्यान्वित होते हैं, फिर भी जाने नहीं जाते । आत्मा न किसी दूसरेसे कर्म कराता है और न स्वयं करता है। वह कर्मफल की भी चिन्ता नहीं करता । भौतिक प्रकृतिके गुण ही सब कुछ करते हैं । आत्माका सच्चा स्वभाव यह है कि वह किसीके पाप अथवा पुण्यसे प्रभावित नहीं होता । सच्चा ज्ञान अज्ञानसे ढँक जाता है, इसीसे लोग मोहमें फँसते हैं । (५.१४-१५) सत्त्व, रज और तम इन्हीं तीन गुणोंसे मनुष्य परिचालित होते है । ये गुण प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं । शरीरमें रहता हुआ आत्मा, यद्यपि वह अविनाशी है, इन गुणोंसे बँध जाता और इन्हींके द्वारा परिचालित होता है । (१४.५)

ईश्वर सब प्राणियोंके हृदयमें वास करता है और मायाके बलसे उन्हें यन्त्रपर चढ़ी पुतलियोंकी तरह घुमाता रहता है। मनुष्य जिन गुणोंके साथ अपनी जीवनयात्रा आरम्भ करता है, उन्हींसे उसके कर्मोंका निर्धारण होता है। वैयक्तिक प्रयत्नों एवं आत्मसंयमकी साधना द्वारा कर्मफलसे बचा जा सकता है। मनुष्य पूर्वजन्मके कर्मोंसे उत्पन्न सहज संस्कारोंके अनुसार कर्म करते हैं और इन संस्कारोंकी उपेक्षा करना सम्भव नहीं है। भगवान्‌ने गीतामें स्पष्ट कहा है कि 'मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता : **न मे भक्तः प्रणश्यति** ।

कर्मका सिद्धान्त भयावह नहीं है। नियम अनुल्लंघनीय तो है, किन्तु प्रार्थना और प्रायश्चित्तसे आत्मा शुद्ध हो जाता है। भगवान्‌को न कोई प्रिय है और न कोई अप्रिय! जो उन्हें भक्तिपूर्वक भजते हैं, वे उनमें हैं और वह उनमें है।...यदि भारी दुराचारी भी अनन्य-भावसे उन्हें भजे, तो उसकी गणना भी साधुओंमें ही करनी चाहिए, क्योंकि अब उसका संकल्प अच्छा है। (गीता ९.२९-३०) प्रार्थना एवं पश्चात्ताप पूर्वकर्मोंके प्रभावको नष्ट कर देते हैं। याद रखिये, पश्चात्ताप, आत्मग्लानि, भगवत्प्रसाद और कृपाके लिए प्रार्थना शुद्ध मानसिक क्रिया है।

उपासनाकी सब विधियाँ वस्तुतः एक ही है, अन्तर केवल प्रकारका है। अतएव तथा-कथित धार्मिक मतभेद व्यर्थ और मिथ्या हैं। (गीता ४,११) के अनुसार भगवान्‌का स्पष्ट निर्णय है कि मनुष्य जिस प्रकार उनका आश्रय लेते हैं, उसी प्रकार वे उन्हें फल देते हैं; क्योंकि मनुष्य उपासनाका कोई भी मार्ग ग्रहण करे, वह उन्हें ही प्राप्त होते हैं।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

"मुझे पत्र, फूल या फल, जल जो कुछ भी भक्तिपूर्वक अर्पित किया जाता है, उसे मैं प्रयत्नशील आत्मा द्वारा भक्तिपूर्वक अर्पित मानकर उत्सुकताके साथ ग्रहण करता हूँ।" (९.२६)

यद्यपि उपासनका स्वरूप कोई भी हो, उससे ईश्वरकी प्राप्ति होती है, तथापि गीतामें अनीश्वरवाद एवं भौतिकवादकी स्पष्ट निन्दा की गयी है। (१६. ७-१८, २३, २४) भौतिकवादी स्वीकार नहीं करता कि कोई बात स्वयं सही या गलत होती है। जीवनकी भौतिक विचारधाराका वर्णन आप १६वें अध्याय ८वें श्लोकमें पायेंगे। अनीश्वरवाद उन्नति, सभ्यता, शोषण और युद्धके झूठे विचार उत्पन्न करता है। जातिका दम्भ और तथा-कथित संस्कृति अथवा सभ्यताका मिथ्याभिमान या परोपकार भी उन पापोंके फलसे रक्षा नहीं कर सकता जिनपर इन सबकी इमारत खड़ी हुई है।

जो लोग अन्तरात्माकी आवाज नहीं सुनते, अपना अधःपतन या दूसरोंकी हानि करते हैं, वे मानो ईश्वरसे द्वेष करते हैं, क्योंकि सभी शरीरोंमें ईश्वरका निवास है। शुभाशुभका निर्णय मनुष्य अपने पूर्व गामियोंके अनुभवके मार्गदर्शन द्वारा कर सकता है। तृष्णाकी पूर्ति-हेतु बने जीवनके नियम विनाशकी ओर ले जाते हैं। हमारे लिये वही शास्त्र है, जो सन्तों एवं ज्ञानियोंने ईश्वर एवं सत्यकी खोजके फलस्वरूप उपार्जित ज्ञान दिया है। मनुष्य-जातिकी प्रत्येक पीढ़ीको चाहिए कि वह पहलेकी पीढ़ियोंके अनुसंधानकी नींवपर नया भवन खड़ा करे। पुनः पुनः नित्य-नवीन प्रयास करना निष्फल एवं अकारण सिद्ध होगा। एक ही जगह कुँआ खोदना उचित है।

१६वें अध्यायके २३-२४ श्लोकोंमें स्पष्ट कहा है कि 'मनुष्य शास्त्र-विधिको छोड़कर स्वेच्छासे भोगोंमें लीन होता है वह परम लक्ष्यके मार्गपर नहीं चलता और न आध्यात्मिक शक्ति या सांसारिक सुख ही पा सकता है। इसीलिए कार्य और अकार्यका निर्णय करनेमें तुझे

शास्त्रको ही प्रमाण मानना चाहिए। शास्त्रविधि क्या है, यह जानकर इस संसारमें तुझे कर्म करना चाहिए।' शास्त्र कौन-सा है, इसका उत्तर है श्रुति-स्मृति आदि। श्रुति-स्मृतिके वचन ही आदेश हैं और वे ही प्रामाणिक करणीय कार्य हैं।

मनुष्य अपने कर्मोंके परिणामस्वरूप विशेष स्वभाव लेकर उत्पन्न होता है और स्वभावके अनुसार ही व्यक्तिमें उसकी श्रद्धाका निर्माण होता है। (गीता १.६३) में लिखा है : सब मनुष्योंकी श्रद्धा उनके स्वभावके अनुसार बनती है। मनुष्य श्रद्धामय है। मनुष्य जिसपर श्रद्धा रखता है, वही वह भी है।···हम अपना मन सही आदर्शोंपर लगायें एवं आध्यात्मिक विकासकी दृष्टिसे अपने कार्य नियमित रूपसे करें। कोई भी धार्मिक कार्य स्वार्थसाधन या दिखावेके लिए न हो। केवल शरीरको कष्ट देना ही तप नहीं है। दम्भ, अहंकार, काम-रागसे प्रेरित शास्त्रीय विधिसे रहित तप आदि व्यर्थ हैं। तप कायिक, वाचिक और मानसिक हो सकता है। कायिक तप आर्जव, भक्ति ब्रह्मचर्य एवं करुणासे युक्त आचार द्वारा होता है। वाचिक तप सत्यमय, सौम्य, प्रिय वाणीमें एवं धार्मिक ग्रन्थोंके अध्ययन एवं वाचनमें हैं। मानसिक समत्व एवं विचारोंकी पवित्रता उत्पन्न करना मानसिक तप है। (गीता १६.१४-१६)

वैसे ही दान, प्रेरक हेतुके अनुसार उत्तम, व्यर्थ एवं बुरा होता है। दान प्रसन्नता-पूर्वक कर्तव्यभावसे बिना प्रतिफलकी आशा किये किया जाय। पुण्यप्राप्तिकी लालसा भी न हो। हम देखते हैं कि गीतामें मनुष्यके कर्मों, अभिरुचियों, कामनाओं आदिको तीन वर्गोंमें विभक्त किया गया है। सात्त्विक वह है, जिसमें सत्य एवं युक्तताका प्राधान्य हो। राजसिकमें कर्म-प्रवृत्ति और काम, क्रोध आदि विकारोंकी प्रबलता होती है। तामसिक निम्नतम है, जिसमें अकर्मण्यताका साम्राज्य रहता है।

●

शान्तिका अधिकारी कौन ?

समुद्रमें सब ओरसे नदियोंका जल आकर गिरता है, वह निरन्तर भरता रहता है तो भी मर्यादासे विचलित नहीं होता है। उसमें बाढ़ नहीं आती है। इसी तरह जिसके मानस-सिन्धुमें सारी कामनाएँ आकर शान्त या समाप्त हो जाती है, वही पुरुष शान्ति पाता है। काम-भोगोंकी चाह रखने वाला नहीं। जो पुरुष समस्त कामनाओंको त्यागकर निःस्पृह भावसे सर्वत्र विचरता है तथा ममता और अहंकारको मनमें स्थान नहीं देता है, वही शान्तिका भागी होता है। (गीता २.७०-७१)

गीताका आरम्भ 'धर्म' शब्द से ही क्यों?

श्री मध्येश्वर मिश्र (गीता स्वामी)

★

करुणा-सिन्धु भगवान् श्रीकृष्ण युग-युगमें अवतरित होकर प्रधानतः तीन कार्य करते रहे हैं : (१) साधु-परित्राण, (२) दुष्टोंका विनाश और (३) धर्मकी स्थापना। इनमेंसे जैसा कार्य जिस युगमें करना था, वैसी ही शक्ति और साधनसे वे उस युगमें प्रकट हुए। जैसे सत्ययुगमें पापकी मात्रा न्यूनतम रहती है, अतः नरसिंह और परशुराम अवतारोंमें क्रमशः दस और बारह कलाओंसे उनका अवतरण हुआ। त्रेतामें पापकी मात्रा उसकी अपेक्षा अधिक होनेके कारण उस समय उनका चौदह कलाओंसे सम्पन्न राम-अवतार हुआ। द्वापरमें पापकी मात्रा उससे भी अधिक होनेसे उस समय कृष्णावतार सोलह कलाओंसे सम्पन्न हुआ। अतएव कृष्णावतार पूर्णावतार माना गया है। भागवतमें "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" कहकर इसीकी पुष्टि की गयी है। द्वापरमें अत्यधिक पाप-पुंज दूरकर धर्म-स्थापन करना था। उस समय राजनैतिक, बौद्धिक एवं सामाजिक व्यवहारोंसे धर्मका प्रायः लोप हो चुका था। अब विचारपूर्वक यह देखा जाय कि इन युगोंमें धर्मकी मात्रा कितनी और कैसी थी ?

त्रेता युगमें

१. महाराज दशरथके लिए प्राण त्यागना सहज था, पर बातसे हटना कठिन था। जैसे : **प्राण जाइ बरु वचन न जाई।**

२. राघवेन्द्र रामका राज्याभिषेक न होनेपर सारी प्रजा अशान्त और दुखी थी।

३. भरतको सेनासहित आते देख निषाद-राज राजभय छोड़कर रामके रक्षार्थ सपरिवार सशस्त्र युद्धके लिए तैयार था।

द्वापर युगमें

१. दुष्ट दुर्योधनको निश्चित समयके लिए धरोहरके रूपमें रखा राज्य लौटाना कठिन था, पर बातसे हटना और युद्ध करना सहज था। जैसे : **सूच्यग्रं न प्रदास्यामि विना युद्धेन केशव।**

२. धर्मराज युधिष्ठिरका राज्य छलसे छीन लिया गया, तो भी सारी प्रजा शान्त बनी रही।

३. द्रौपदीको भरी सभामें नग्न करते देख कर भी सभी मौन और शान्त थे।

४. दूतरूपमें श्री हनुमान् और अंगद, रावण-दरबारमें निर्भय हो रामका सन्देश सुनाकर प्राणदण्डसे वंचित रहे।	४. दूतरूपमें आये हुए श्रीकृष्णको दुष्ट दुर्योधनने दरबारमें प्राणदण्ड देनेकी योजना बनायी थी।
५. पिताकी आज्ञाका सर्वस्व त्यागकर भी पालन किया जाता था।	५. क्रूर कंसने अपने पिता उग्रसेनको कैद करके राज्य हथिया लिया था।
६. रावणने अपनी बहनके बहकानेपर रामसे युद्ध करके मर मिटना ही कर्तव्य समझा।	६. क्रूर कंसने अपनी बहनको कैदकर कत्ल कर देना ही कर्तव्य माना।
७. मूर्छितावस्थामें तथा निहत्थेपर वार नहीं होता था।	७. निहत्थे सुभद्रा-कुमार अभिमन्युको एक नहीं, सात-सात महारथियोंने मिलकर मार डाला।
८. रावणका रामपर विश्वास था; क्योंकि आचार्य रूपमें वह शंकरकी प्राण-प्रतिष्ठा करानेके लिए रामके पास सीताको ले आया था।	८. दुष्ट दुर्योधन, धर्मराज युधिष्ठिरको लाक्षागृहमें भ्रातृत्वका भाव दिखाकर ले आया और वहाँ उसने उनके साथ विश्वासघात किया।

उपर्युक्त सभी विषमताओंके विवरणसे स्पष्ट हो जाता है कि उस समय धर्मका ह्रास और अधर्मकी वृद्धि थी। राजासे प्रजातक छोटे-बड़े सभी पतनाभिमुख थे। ऐसी विषम परिस्थितिमें भक्तभयहारी भगवान् श्रीकृष्णने अपनी अमरवाणी ('यदा यदा हि ····युगे युगे') के अनुसार धर्मरक्षार्थ अर्जुनको **युद्धाय कृतनिश्चयः** (गीता २.३६) की आज्ञा देकर स्वधर्माचरण करनेकी महत्ता बतायी और कहा : **स्वधर्मे निधनं श्रेय परधर्मो भयावहः।** (गीता ३ २५)। इस प्रकार देखा जाता है कि इस युगमें धर्माचरण करनेकी ही एकमात्र आवश्यकता थी। इसीलिए गीताके प्रथम अध्यायका प्रथम श्लोक 'धर्म' शब्दसे आरम्भ किया गया।

●

पण्डित कौन ?

जिसके किसी भी आयोजनमें कामनाकी गन्ध नहीं, संकल्पका प्रवेश नहीं है, जिसके समस्त कर्म रूपी ईंधन ज्ञानकी अग्निसे भस्म हो चुके हैं, उसे ही विद्वान् पुरुष पण्डित या ज्ञानी कहते हैं। (गीता ४.१०)

जो आजकी जागरूक हैं :

श्रीमद्भगवद्गीताके मूल प्रश्न

डॉ० श्री गोपालचन्द्र मिश्र, वेदाचार्य

भारतीय वाङ्मयमें श्रीमद्भगवद्गीताका महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह स्वयं एक पूर्ण ग्रन्थ होते हुए भी पञ्चम वेद महाभारतका एक अंश है। आचार्योंने इसकी सैकड़ों व्याख्याएँ अपनी-अपनी दृष्टिसे मानवके हितकारी सिद्धान्तोंको बताते हुए विभिन्न कालोंमें जनताके सामने रखी हैं। मानवके इस तर्क-प्रधान विचार-युगमें भी गीताका महत्त्व अक्षुण्ण बना हुआ है। विश्वके सभी कोनोंमें इसके अध्ययनके प्रति श्रद्धा है। भारतीय आचार्योंने तो 'प्रस्थान'त्रयीमें गणना करके अपने सिद्धान्तकी प्रामाणिकतामें इसका आश्रय लेना आवश्यक माना है।

अर्जुनने रणाङ्गणमें खड़े होकर जिन उलझनोंको अपने मित्र और हितैषी देवकीनन्दन श्रीकृष्णके सामने प्रस्तुत किया था, भगवद्गीता उन्हीं उलझनोंका समाधान है। अर्जुनने जिन मूल प्रश्नोंको प्रस्तुत किया है, वे जनसामान्यकी दृष्टिसे भारतीय कर्मकाण्डके ऊपर आधृत प्रश्न है। उत्तर भी उन्हींका उसी रीतिसे होना चाहिए। किन्तु व्याख्याकारोंने कर्मकाण्डकी दृष्टिसे गीताके श्लोकोंकी व्याख्या नहीं की है। प्रायः सभी व्याख्याकार इसे अध्यात्म-ग्रन्थ बना देते हैं। जीवन, सृष्टि, जीव, आत्मा जैसे गूढ़तत्वोंका ही विश्लेषण इस ग्रन्थसे करते हैं, जबकि सामान्यतया इसकी व्याख्यामें प्रश्न-शैलीके अनुरूप मूल प्रश्नोंके समाधान ढूंढ़ने चाहिए थे।

महाभारतका युद्ध तत्त्वज्ञानके लिए नहीं हुआ है। उसे हम लोकैषणाके अन्तर्गत अधिकार-प्राप्तिके लिए तथा वित्तैषणाके अन्तर्गत भूमिप्राप्तिके लिए ही मान सकते हैं। अर्जुन अपने प्रतिपक्षी वीरोंको भी व्यावहारिक रूपसे पिता, पितामह गुरुजन, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, मित्र, श्वसुर आदि रूपसे ही देखता है। ये सब आपसमें लड़ेंगे और एक दूसरेपर घात-प्रतिघात करके मर जायेंगे। भारतीय परम्परामें जहाँ शान्ति और प्रेमकी अपेक्षा है, वहाँ परस्पर सम्बन्धियोंमें मारकाट मच जायेगी। इस दृश्यकी बुद्धिमें कल्पना करके उसकी दारुणताके कारण अर्जुन करुणाके संचारसे शक्तिहीन-सा हो जाता है। उसका मुंह सूख जाता है। युद्धके दारुण परिणामका स्मरण कर उसका शरीर काँप उठता है।

यह युद्ध इसलिए हो रहा है कि अर्जुन या पाण्डवोंकी प्रतिष्ठा रह जाय, उनका छीना हुआ राज्य वापस मिल जाय और पाण्डव स्वयं तथा उनके आत्मीयजन सुखसे रह सकें। यही कामना इस युद्धका मूल है। इस कामनाके लिए सभी सम्बन्धी नष्ट होने जा रहे हैं। इस विनाशका कारण प्रधान रूपसे अर्जुन है; क्योंकि उसने विजयके लक्ष्यसे ही पाण्डवके वनवासके समय अपने भाइयोंसे अलग रहकर महर्षि वेदव्यासके निर्देशानुसार भगवान् शंकरकी आराधना की है और उनको अपनी तपश्चर्या और आचारसे प्रसन्न कर अमोघ अस्त्र प्राप्त किये हैं। अर्जुनकी बाणविद्या और अमोघ अस्त्रोंकी प्राप्तिका बल ही युधिष्ठिर-जैसे सात्त्विकको भी युद्धमें उतरनेके लिए उत्साहित कर रहा है। पाण्डवोंका अर्जुनपर ही भरोसा है। कौरव-पक्षके वीर भी पाण्डव-पक्षके अन्य किसी वीरसे सामना करनेमें नहीं हिचकिचाते। केवल अर्जुन ही एक ऐसा वीर है जिसके पौरुष, कौशल एवं अमोघ प्रहारसे लोहा लेना ही उनके ध्यानमें है। अर्जुनके कारण ही पाण्डवोंकी सेना बलवती है और कौरव-सेना भी अपनी जय निश्चित करनेमें असमर्थ हैं!

अर्जुनको आत्माभिमानसे नहीं, किन्तु आत्मनिरीक्षणसे यह बोध हुआ कि मानव-विनाशका यह सारा-का-सारा दायित्व मुझपर है। अर्जुनकी शक्तिका उपयोग जीवहितमें होना चाहिए था, किन्तु आज विश्वविनाशके लिए होने जा रहा है। वह इस विनाशका उत्तरदायी ही नहीं, किन्तु एक सक्रिय पात्रके रूपमें भी सबके सामने है।

आत्मशक्तिके इस दुरुपयोगका विचारकर अर्जुनका रोम-रोम घृणाके कारण खड़ा हो गया। हाथमें गाण्डीव धनुषको संभालनेकी शक्ति नहीं रही। दुःखकी अधिकताके कारण भीतरका मन ही नहीं, किन्तु बाहरकी त्वचा भी जलने लगी। उसके लिए खड़ा रहना भी कठिन हो गया। उसके मनमें विचार करनेकी शक्ति नहीं रह गयी। वह डाँवाडोल हो गया। युद्धके जो कारण अबतक उसके ध्यानमें थे, जिनसे वह अपने पक्षको न्यायसंगत समझता था, आज विपरीत प्रतीत होने लगे। (गीता १.२९-३१)

उसने अपने अन्तरङ्ग हितैषी और सलाहकार वासुदेव श्रीकृष्णसे कहा : 'मैं स्वजनोंको युद्धमें मारकर कल्याण (श्रेय) नहीं देखता हूँ। यदि तुम प्रेय समझते हो तो वह भी नहीं चाहता। मैं विजयरूपी प्रतिष्ठा, फलस्वरूप राज्य और सुखभोग नहीं चाहता। हे गोविन्द! इस राज्यसे क्या होगा? और ये भोग क्या सुखप्रद होंगे? और तो क्या, यह जीवन भी किस कामका होगा? मनुष्य केवल अपने लिए ही नहीं, किन्तु अपने आत्मीय जनोंके लिये भी राज्य और भोग-साधन इकट्ठा करता है और उनसे सुखका अनुभव करता है। जिनके लिए यह सब होना चाहिए, वे सुखके सहयोगी आज अपने प्राण और धनका मोह छोड़कर युद्धमें खड़े है। मैं इनको आक्रमण करनेपर भी मारना नहीं चाहता। इस युद्धसे यदि त्रिलोकीका राज्य मिले तब भी मैं बेकार समझता हूँ। पृथ्वीके राज्यका तो लोभ कोई महत्त्व ही नहीं रखता। धृतराष्ट्रकी सन्तान एवं उसके समर्थक, जो हमारे ही सगे-सम्बन्धी है, उनको मारकर क्या प्रसन्नताका अनुभव किया जा सकता है? यद्यपि वे आततायी दोषी और वधके पात्र हैं, पर इस युद्धका मूल कारण मैं हूँ, आततायीको मारा जा सकता है, उससे आततायीपन

नहीं बढ़ेगा, यह लाभ तो अवश्य है। पर यतः मैं इस समय राजा या शासक नहीं हूं, सत्ता हाथमें न रहनेपर हमारा इन्हें मारना अनधिकारके कारण केवल अपने लिये पापको बटोरना है। इसलिए हमें अपने बान्धव धृतराष्ट्र पक्षके वीरोंको मारना उचित नहीं है। इनको मारकर हम कैसे अपनेको सुखी मान सकते है? पाप और सुखाभाव ही तो इस युद्धका परिणाम है, वह दोनों पक्षोंके लिए बराबर हैं फिर भी लोभसे इन कौरवोंकी दृष्टि धूमिल पड़ गयी है, इससे ये देख नहीं पाते।

इस अवश्यंभावी दोष और पापसे बचनेके लिए हम क्यों न विचार करें? कुलकी वृद्धिके लिए हम 'गोत्रं नो वर्धताम्' प्रार्थना करते हैं। कुलका बढ़ना गौरवके साधनोंमेंसे एक है। आज हम आपसमें कुलका नाश करके अपनी प्रार्थनाके विरोधी हो रहे हैं एवं अपने पैरोंपर कुल्हाड़ी मारकर अपना नाश—अपने गौरवको समाप्त कर रहे है। यह तो युद्धका लौकिक दोष है। ये सगे-संबन्धी जो हमारे स्नेह एवं अनुरोधवश हमारे पक्षकी रक्षाके लिए इकट्ठे हुए है, इन निरपराध स्वार्थविहीन व्यक्तियोंसे द्रोह एवं तन्मूलक प्रहार, घात, हत्या कराना केवल मात्र पातक बटोरना है। यदि नास्तिक्य या स्वार्थबुद्धिसे पातकको कोई महत्त्व नहीं दें तो कुलक्षय होनेपर कितना दोष है, इसको तो देखो!' यह कहकर वह श्रीमद्भगवद्गीताके मूलप्रश्न श्रीकृष्णके सामने रखता है।

१. कुलके व्यक्तियोंके नष्ट होनेपर सदासे चले आये कुलधर्म (कुलपरम्पराएँ) जो हमारे पूर्वजोंकी गौरव-गाथाको, हमारे पृथक् अस्तित्वको बनाये रखते हैं, नष्ट हो जायेंगे; क्योंकि उनको बचानेवाला ही नहीं रहेगा।

२. यदि धर्म (गौरव-बोध, स्वतन्त्र अस्तित्वका रूप) ही नष्ट हो गया तो इस पूरे बचे हुए कुलको अधर्म घेर लेगा। बचे-खुचे सभी कुलके प्राणियोंके मनसे हम समझदारोंकी बेवकूफीसे गौरव-कारणके-बोध और स्वतन्त्र अस्तित्वकी भावना उजड़ जायगी तथा मानवताके आधारसे केवल जीवनचर्या चलनेकी भावना रह जायगी। यों अधर्म छा जायगा।

३. अपनेपनका बोध और उसकी सुरक्षाकी भावना न होकर केवल सामान्य भावना=मानव-आवश्यकताकी पूर्तिमात्र ही लक्ष्य रह जायगा तो कुल की स्त्रियाँ जो जीवित रहेंगी वे 'प्रदुष्यन्ति' विशेष रूपसे बिगड़ जायगी। अमर्यादित साजसज्जा वेश-भूषा, रहन-सहन एवं मानवीय आकाङ्क्षाके आधारपर मानवमात्रके साथ लज्जा-शीलको छोड़कर बोल-चाल, हाव-भाव कामकाज करने लगेंगी और अपने जीवनको यौन-वासनाकी पूर्तिका साधन बना लेंगी।

४. स्त्रियाँ जब दुष्ट=अपनी मर्यादासे बाहर हो जायेंगी तो वर्णसंकर सन्तानें उत्पन्न होंगी। क्योंकि अपनी नस्लको सुरक्षित रखनेमें मर्यादा एवं आत्मबोध ही काम करता है। स्त्रियोंका वह नष्ट हुआ ही रहेगा, पुरुष भी बच नहीं पायेंगे, क्योंकि उनका आधा स्वरूप (स्त्रीजाति) तो बिगड़ा ही रहेगा। युद्धके बाद स्त्रियाँ अधिक बचेंगी। बहुमतमें तथा

उनके आकर्षणमें पुरुष स्वयं उनका दास बना रहेगा। दूसरे स्त्रियाँ जब बिगड़ जायेंगी तो समाज उनके अमर्यादित व्यवहारके लाभ = मनमोहक रूपके दर्शन, स्पर्शके सुख, यौन-वासनाकी पूर्तिके आनन्दके लोभसे इस अधर्मको ही पसन्द करेगा, जिससे अबाध रूपसे वर्णसंकर सन्तानें होंगी।

५. वर्णसंकर सन्तान राष्ट्रके पतनके लिए ही समझी जाती हैं, होती हैं। उसकी राष्ट्रभक्तिका आधार; जो आत्मगौरव-बोध एवं मानवतामें भी अपने पृथक् अस्तित्वकी आकांक्षा है, गिर जाता है। क्योंकि वे स्वयं विश्व-मानवताके आधारपर जन्मे हैं और उन्हें विश्व-मानवताके नामपर ही स्वच्छन्दता मिल सकती है। यदि वे राष्ट्र, जो विश्वका एक अंश है, उसपर विश्वास करते हैं तो संकीर्णता ज्ञात होती है। मानव-मानव एकसमान नहीं रहता। जिन सिद्धान्तों (सं० २, ३, ४) पर वर्णसंकरोंका प्रादुर्भाव हुआ है, उन्हींके आधारपर वे विश्वसुन्दरियोंसे सम्पर्क बढ़ानेमें सचेष्ट होंगे। फलतः राष्ट्रिय भावना गिरती जायगी। जिसके कारण राष्ट्रका निश्चित पतन होगा।

६. जब राष्ट्र, कुल, जाति नष्ट हो जायँगे तो हम इस युद्धके कर्णधार कुलहन्ता कहलायेंगे तथा हमारे राष्ट्र राज्य, कुल जातिकी गौरवगाथाके मूल कुलपुरुष सभी अतीतके व्यक्ति जनताकी दृष्टिसे गिर जायँगे। हमारा पिण्ड = नस्ल जल = पानी = इज्जत, क्रिया = आत्माभिमानमें उत्साहसे कार्य करनेकी शक्ति सभी विलीन हो जायँगी।

७. हम कुलघाती व्यक्तियोंके कारण वर्णसंकरके माध्यमसे राष्ट्र, कुल, जातिकी ध्रुवता तथा रक्षणीय धर्म सभी नष्ट हो जायँगे। इससे हमारा भी नरकमें अनिश्चित कालतक निवास बना रहेगा।

अहो ! हम राज्यसुख के लोभसे हम बहुत भारी पाप करनेका प्रयास कर रहे है। यह सब मेरे बल या मेरी इच्छासे हो रहा है। इसलिए यदि मुझ पापी शस्त्रहीनको भी शस्त्रधारी धृतराष्ट्रकी सन्तानें मार दें, तो वह एक मेरे कियेका प्रायश्चित्त होनेके कारण बड़ा अच्छा कल्याणकारी दण्ड होगा।

श्रीमद्भगवद्गीताकी यही भूमिका है। और अर्जुनके ये ही सात मूल प्रश्न है। यही प्रथमाध्याय है। हमें इन मूल प्रश्नोंको समझना चाहिए, जो आजके युगमें भी मनोषियोंके विचारार्थ सामने खड़े है। इनका उत्तर ही गीताके सत्तरह अध्याय हैं। यद्यपि अभी हमें सरलतासे इन प्रश्नोंका हृदयग्राही उत्तर गीता और उसकी व्याख्याओंमें दृष्टिगोचर नहीं होता, पर वस्तुतः वही ज्ञातव्य है। जो मननसे, गुरुजनोंकी कृपासे अवश्य मिल सकता है।

●

आओ, गोविन्द आओ !

आओ, प्यारे गोविन्द लाल !
हैं बुला रहे कबसे तुमको भारतके सारे ग्वाल-बाल ॥

जब दुष्ट पूतना आयी थी
उसने दुर्मति दिखलायी थी
तब तुम्हीं बने उस पापिनके घनश्याम अकेले महाकाल ॥

जब कंस कर रहा मनमाना
उसने न किसीको कुछ जाना
तब तुमने ही था सभा-बीच कुचला उसका दुःशील भाल ॥

यमुना के कालीदह का था
कालिया नाग तुमने नाथा
करपर गिरिवर धर बचा लिये व्रजके गो, गोपी और ग्वाल ॥

महायोगी श्री अरविन्दका जीवन-दर्शन

कुमारी रमा मॉडवेल

★

इस विश्वकी सृष्टि जिस अनादि कालसे हुई है और जिस गतिसे यह निरंतर शताब्दियों तथा सहस्राब्दियोंमें ढलती-बदलती चली जा रही है और जिसमें न जाने कितने अर्बुद मनुष्य जीवन ले-लेकर आते, रहते और चले जाते हैं, उनमें कहीं कभी कोई एक ऐसा महापुरुष सहसा ईश्वरका अंशावतार होकर अवतरित हो जाता है, जो संपूर्ण मानव-समाजको नयी ज्योति नयी शक्ति और नयी दीप्ति देकर अन्तर्धान हो जाता है। महर्षि अरविन्द भी ऐसे ही दिव्य महापुरुष थे, जिनको किसी एक विशेषणसे विभूषित करके नहीं समझाया जा सकता।

महर्षि अरविन्द अनेक गुणोंके पुंजीभूत महामानव थे। वे एक ओर जहाँ प्रकाण्ड विद्वान् अनेक भाषाओंके पण्डित और साहित्यकार थे, वहीं दूसरी ओर वे प्रबल देशभक्त और विदेशी ब्रिटिश-राज्यसत्ताको समूल नष्ट करनेका प्रगाढ़ संकल्प लिये हुए महान् क्रान्तिकारी भी थे। पर इनसे भी अधिक वे महान् योगी थे, जिनका यह पूर्ण विश्वास था कि भगवत्-चेतनाको इस पार्थिव-जगत्में उतारा जा सकता है, जो मानसातीत, दैवीशक्तिके अवतरणमें विश्वास करते थे और जो मां भगवतीके अनन्य एकान्त उपासक भी थे।

भारतीय इतिहासमें १५ अगस्त १८७२ का दिन वह दिव्य स्वर्ण-पर्व है, जब बंगालके डॉ० कृष्णघनके यहाँ महायोगी अरविन्दका जन्म हुआ। डॉ० कृष्णघनको पाश्चात्य जीवन-शैली, वेष-भूषा और आचार-व्यवहारपर बड़ी विशेष आस्था थी। इस कारण सन् १८८९ में श्री अरविन्द अपने बड़े भाइयोंके साथ विद्यार्जनके लिए इंग्लैण्ड भेज दिये गये। किन्तु श्री अरविन्दके नाना श्री राजनारायण बोस भारतीय संस्कृति, सभ्यता, जीवनचर्या, आदर्श और दर्शनके परम निष्णात भक्त थे। इसीलिए श्री अरविन्दको भारतीय और पाश्चात्य संस्कृतिकी दोनों परम्पराएँ रिक्थमें मिल गयी थी। मातृपक्ष और पितृपक्ष दोनोंसे श्री अरविन्दको वह दिव्य आध्यात्मिक शक्ति, प्रेरणा और प्रवृत्ति मिल गयी, जिनका अत्यन्त विकसित रूप उनके योगमय जीवनमें प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है।

सन् १८९३ में भारत आकर वे बड़ौदा-राज्य-कालेजमें प्राचार्य पदपर सुशोभित हो गये, किन्तु यह पद उन्हें बहुत दिनोंतक प्रलुब्ध किये न रह सका। उनके हृदयमें जहाँ एक ओर भारतीयता और भारतीय सनातनधर्ममें आस्था दृढ़ होती जा रही थी, वहीं दूसरी ओर

अपना देश अंग्रेजोंके चंगुलसे मुक्त करानेके लिए उनके हृदयको विक्षुब्ध किये जा रहा था। इस कार्यके लिए उन्होंने तीन उपाय निर्धारित किये : १. गुप्त सशस्त्र क्रान्तिकी तैयारी, २. विदेशी शासनके विरुद्ध खुला प्रचार और ३. विदेशी शासनसे पूर्ण असहयोग तथा प्रतिरोध।

सन् १९०५ में बंग-भंग होनेके पश्चात् वे बड़ौदासे दौड़कर कलकत्ते चले आये। उस समय राजा राममोहन राय, श्री रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, केशवचन्द्र सेन आदि अनेक देश-भक्त और भारतीयताके पुजारी ब्रह्मसमाज तथा आर्यसमाज आदि संस्थाओंके माध्यमसे पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृतिकी विपत्तिसे भारतकी रक्षा करनेमें व्यस्त थे।

श्री अरविन्द अपनेको भगवान्‌का शुद्ध यन्त्र मानते थे। उनका लक्ष्य था कि राजनीतिक चेतनाको ऊपर उठाकर भागवती चेतनामें निमज्जित कर दिया जाय। उनके राष्ट्रवादका आधार था मातृभक्ति। अर्थात् जैसे मातृभक्त पुत्र अपनी मातामें अविचल अखण्ड श्रद्धा करता है, वैसे ही प्रत्येक देशभक्तको अपनी माता जन्मभूमिमें भी अविचल अखण्ड श्रद्धा करनी चाहिए।

अपने इस नवीन आध्यात्मिक राष्ट्रवादका झंडा लेकर वे खुले रूपमें राजनीतिमें कूद पड़े। परिणामतः सन् १९०८ में वे वन्दी बनाकर अलीपुर-जेलमें डाल दिये गये। कारागारके एकान्त-जीवनका लाभ उठाकर उन्होंने जहाँ एक ओर गीता और उपनिषदोंका अनुशीलन किया, वहीं अष्टांग-योगकी साधना करके योगाभ्यास भी प्रारम्भ कर दिया। इस व्यवस्थासे जीवनके प्रति उनका सारा दृष्टिकोण ही बदल गया। वे जेलसे बाहर निकले, तो योगी अरविन्द बनकर निकले।

सन् १९१० में आकस्मिक भागवती प्रेरणा और दैवी आदेशसे प्रभावित होकर उन्होंने राजनीतिसे संन्यास ले लिया और सदाके लिए पाण्डिचेरी चले गये। उन्होंने लिखा है कि 'योगी विष्णु भास्कर लेलेके साथ ध्यान करते समय ही मुझे पहले-पहल ब्रह्मका अनुभव हुआ था।' उन्हें यह निश्चल, नीरव और देशकालातीतकी अनुभूति तब प्राप्त हुई थी जब उनकी समग्र चेतना पूर्णतः स्थायीरूपसे शान्त हो गयी थी। दूसरी दैवी अनुभूति उन्हें अलीपुर-जेलमें प्राप्त हुई, जहाँ उन्हें पाण्डिचेरी चले जानेका आदेश मिला था। पाण्डिचेरी पहुँचकर वे निरन्तर अपनी आध्यात्मिक-साधना और योगमें लगे रहे।

श्री अरविन्दने अपने योगको जातिका जीवनस्तर ऊपर उठानेका अभ्यास और क्रम बताया है। विचित्र बात यह है कि उन्होंने संन्यासको कभी अपने योगके अंशके रूपमें स्वीकार नहीं किया। अपनी इस आध्यात्मिक साधनामें उन्होंने जिस मानसातीत अवतरणकी कल्पना की है, वह उनकी अपनी खोज है। सम्पूर्ण भारतीय दर्शनका मन्थन और आलोडन करके उन्होंने अपने इस विशिष्ट मानसातीत अवतरणके सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है। अभीतक विश्वके प्रायः सभी दर्शनोंमें भगवत्-प्राप्तिके लिए मानवको ऊपर उठना आवश्यक बताया गया था। किन्तु श्री अरविन्दने यह कहा कि 'मनुष्य अपनी भक्ति और योगबलसे मानसातीत शक्तिका अवतरण (सुप्रामेंटल डिसेंट) करा सकता है।' उनका विश्वास था कि हमारा कोई भी कार्य

तभी सफल हो सकता है, जब मानसातीत शक्तिका अवतरण हो। जैसे प्रह्लादने हिरण्यकशिपुके अत्याचारोंका अवसान करानेके लिए नृसिंहरूपमें मानसातीत शक्तिको ला उतारा था। यह ऐसा दिव्य अवतरण है, जिसकी पूरी महिमा अभीतक स्पष्टरूपसे प्रकाशित नहीं हो पायी है; अन्यथा मानव-जीवनका पूरा स्वरूप ही कुछ भिन्न प्रकारका हो गया होता। जब मानसातीत शक्ति अपनी समस्त समर्थताओंके साथ नीचे उतर आयेगी तब हमारी अर्थात् मानवमात्रकी प्रकृतिमें महान् मौलिक परिवर्तन हो जायगा।

आध्यात्मिक दृष्टिसे जब पशुकी संवेदनशील चेतनामें मानव-मनका विकास हुआ, तब एक आरोहण और अवरोहणकी प्रक्रिया पूर्ण हो गयी। इस प्रक्रियामें पशु-चेतनाकी ओरसे ऊपर तो आरोहण हुआ और बृहत्तर चेतनाका ऊपरसे अवतरण या अवरोहण हुआ। इस सिद्धान्तके अनुसार यदि मानव सचेतन प्रयत्न करके आरोहण करे और अतिमानस या मानसातीत शक्तिके उच्च आध्यात्मिक तत्त्वका अवरोहण कराया जा सके तो मानव-जातिमें उसी प्रकारका महत्त्व-पूर्ण अन्तर आ जायगा, जैसा कि मानव-मनके प्रकट होनेपर पशु-चेतनामें अन्तर आया था। इस मानसातीत शक्तिके अवतरणसे मानव-प्रकृतिका पूर्णतः रूपान्तर हो जायगा और संसारकी वर्तमान आध्यात्मिक अवस्थामें बड़ा भारी अन्तर आ जायगा। श्री अरविन्दकी आध्यात्मिक प्रक्रिया और योग-साधनका उद्देश्य यही था कि मानव जीवनमें यह अन्तर उपस्थित करा दिया जाय, उसका काया-पलट करा दिया जाय। क्योंकि इस प्रकारका अन्तर लानेसे मानव-जीवन पूर्णतया दिव्य बन सकता है और मनुष्यकी मानसिक चेतना उस मानसातीत चेतनाको प्राप्तकर स्वाभाविक भगवद्-दर्शन कर सकती है। इतना ही नहीं, उसके शरीर, प्राण और मन सभी रूपान्तरित होकर उस आध्यात्मिक चेतनाके अनुरूप बन सकते हैं।

श्री अरविन्दकी कामना थी कि सम्पूर्ण व्यक्तित्व पूर्ण हो। भगवान् पुरुष-भावमें ही नहीं, प्रकृति-भावमें भी उपलब्ध हो। उन्होंने भक्ति, ज्ञान और कर्मका मार्ग अंगीकार किया है। श्री अरविन्द-योगके अनुसार मनुष्यको अपने अहंकार और निम्नप्रकृतिका सारा जीवन उच्च प्रकृतिमें बदल देना चाहिए। इस दृष्टिसे मनुष्यका सारा जीवन ही अरविन्दके योगका क्षेत्र है। इस योगका प्रयोग जीवनकी प्रत्येक घटना और अवस्थामें किया जा सकता है।

श्री अरविन्दका कथन है कि जो मनुष्य अपने जीवनको पूर्ण कृतार्थ बनाना चाहे, उसके लिए निश्चित मार्ग यही है कि वह इस रहस्यके स्वामीको ढूंढ़ ले जो हमारे अन्तस्‌में विराज-मान है। वह स्वयं अपने आपको निरंतर उस दिव्य शक्तिकी ओर उद्घाटित करता रहे जो दिव्य प्रज्ञा है और प्रेम भी है। साथ ही वह इस प्रकार अपना रूपान्तर करनेका कार्य भी उसे सौंप दे। श्री अरविन्दका कथन है कि 'जो भगवान्‌को चुनता है, वास्तवमें उसे भगवान्‌ने ही चुन लिया है। जब व्यक्तित्वका अहंकार बहुत कम हो चलता है और साधक जगन्माताकी दिव्यशक्तिके सामने विशुद्धभावसे अपनेको उद्घाटित करने लगता तथा माताकी कृपाका अनुभव करने लगता है, तभी उसका योग स्वाभाविक रूप ग्रहण करता है। इस व्यक्तिगत प्रयासकी तीन प्रधान क्रियाएँ हैं : अभीप्सा, त्याग और समर्पण।' अपनी 'माता' नामक पुस्तकमें महर्षि

अरविन्दने बताया है कि 'दो ऐसी शक्तियां हैं, जिनके मिलनेसे बहुत महान् और कठिन कर्म भी सरलतासे सिद्ध हो सकते हैं। एक तो है, वह दृढ़ और अभंग अभीप्सा, जो नीचेसे आह्वान करती है और दूसरी है, वह भगवत्-प्रसादरूपा शक्ति, जो ऊपरसे उसका उत्तर देती है। किन्तु यह भगवत्-प्रसादशक्ति केवल तभी उत्तर देती है जब प्रकाश हो और सत्य हो। केवल प्रकाश और शक्ति होनेपर ही वह परमा शक्ति नीचे उतर आती है। समर्पण और आत्मनिवेदनकी ओर साधक जितना ही अग्रसर होगा, उतना ही उसे यह अनुभव होता चलेगा कि भगवती शक्ति स्वयं साधना कर रही हैं और अपने आपको साधकके हृदयमें अधिकाधिक डाले जा रही हैं।'

यह सारा संसार उस ब्रह्मकी अभिव्यक्ति है, उसकी लीला, क्रीड़ा तथा रचना है। श्री अरविन्दकी जीवनदृष्टि अपूर्व रूपमें आशावादी है। मानसातीत, आध्यात्मिक चेतनाका अवतरण और प्रकाश इस पार्थिव-जीवनके प्राकृतिक विकासके लिए सभी पूर्वगामी क्रान्तियोंसे बढ़कर क्रान्ति होगी। तब मानसातीत शक्तिसे सम्पन्न जीवन ऐसा अन्तर्मुख हो जायगा कि उसमें न दुविधा रहेगी, न शंका और न शोक। सारा जीवन आनन्दमय हो जायगा!

●

भक्तका श्रीकृष्णके प्रति प्यार

भक्त श्रीकृष्णको इसलिए प्यार करता है, क्योंकि श्रीकृष्ण प्रेमास्पद हैं; अन्य कोई कारण नहीं। भक्तकी भावना सच्ची भावना है। उसके पास विचार करनेका समय ही नहीं कि उसके भीतर क्या चीज थी, जिसके कारण वह श्रीकृष्णको प्यार कर सका। वह प्यार करता है यही उसके लिए पर्याप्त है; उसे अपने भावावेगोंको उधेड़कर देखनेकी कोई आवश्यकता नहीं। उसके लिए श्रीकृष्णकी कृपा इसीमें है कि वे प्यारे हैं, अपनी झलक दिखाते हैं, बुलाते हैं और वंशी-ध्वनि करते हैं। हृदयके लिए यही पर्याप्त है। इसके अतिरिक्त यदि कुछ है तो केवल यह आकांक्षा कि अन्य सभी लोग उनकी वंशीको सुनें; उनकी छबि देखें और उनके प्रेमके सौंदर्य और सम्मोहन का अनुभव करें।

—श्री अरविन्द

समाजवादके प्रायोगिक प्रणेता योगेश्वर कृष्ण

डॉ० सुरेशव्रत राय एम० ए०, डी० फिल०

★

श्रीकृष्णको पूर्णावतार माना जाता है। उनका बहुमुखी व्यक्तित्व पूर्णावतारको सार्थक करता है। संगीत-कलामें कन्हैयाको ऐसी सिद्धि प्राप्त थी कि गोपियाँ मन्त्रमुग्ध रह जातीं, गायें चरना छोड़कर सुनने लगतीं। वंशीकी धुनके साथ पक्षी, यमुना और कुञ्ज-लताएँ जैसे थिरकने लगतीं। दूसरी ओर जीवनके उत्तरकालमें श्रीकृष्ण अपने युगके श्रेष्ठतम विचारक, दार्शनिक, तत्त्ववेत्ता, राजनीतिज्ञ एवं कूटनीतिज्ञके रूपमें सामने आते हैं। उनका व्यक्तित्व अनेक विरोधी तत्त्वोंका अद्भुत समन्वय है, सर्वपक्षीय है और इस दृष्टिसे अनूठा भी। उन्होंने 'शोषणसे मुक्ति' अभियानका नेतृत्व ही नहीं किया, बल्कि वे जनताको मोर्चा लेनेके लिए संगठित भी करते रहे। मुक्तिके लिए अनवरत संघर्ष श्रीकृष्णकी जीवन-व्याख्या थी, जिसे उन्होंने अपने जीवन द्वारा प्रतिपादित किया। बाल्यकालसे ही उनके सामने पूतना, शकटासुर, वकासुर, अघासुर, कालिय-जैसे अनेक अवरोध आये, किन्तु सभी परास्त हुए। मुक्ति-आन्दोलनके सेनापति कृष्णको मारनेके लिए मुष्टिक, चाणूर-जैसे शक्तिशाली पहलवान, उन्मत्त गजराज कुवलयापीड भेजे गये, किन्तु दृढ़संकल्प और अजेय शक्तिके प्रतीक श्रीकृष्णसे टकराकर सभी चूर-चूर हो गये। असमानता और शोषणके प्रतीक कंसके दमनके साथ शोषणमुक्त साम्राज्यकी स्थापना हुई। गोकुल, मथुरा वृन्दावनकी जनताके जीवनका नया अध्याय आरम्भ हुआ। तथापि शिशुपाल, सुदक्षिण, भौम, दन्तवक्रके रूपमें विघटनकारी एवं प्रतिगामी शक्तियाँ सक्रिय थीं। श्रीकृष्ण निरन्तर संघर्ष करते रहे और विघटनकारी तत्त्वोंका दमन करके उन्होंने दानव-साम्राज्यसे मुक्ति दिलायी। कंसका श्वसुर जरासंध वर्षोंसे सिरदर्द बना रहा। जामाता-कंसके वधका प्रतिशोध लेनेके लिए उसने सत्रह बार मथुरापर आक्रमण किया। अन्तमें श्रीकृष्ण अपनी राजधानी मथुरासे द्वारिकापुरी ले गये।

युगद्रष्टाका चिन्तन मौलिक था और जीवन-दर्शन शाश्वत। उनका दृढ़ विश्वास था कि राष्ट्रिय स्वाभिमान, राजनैतिक स्थिरता तथा आर्थिक प्रगतिका वास्तविक आधार नारेबाजी और भाषणोंकी अपेक्षा दृढ़ संकल्प, अजेय शक्ति तथा सक्रिय प्रयास है। वंशीके अतिरिक्त सुदर्शन चक्र, कौमोदकी गदा, शार्ङ्ग धनुष, नन्दक चन्द्रहास, शतचन्द्र म्यान, पाँचजन्य शंख

शक्तिके प्रतीकरूपमें उनके व्यक्तित्वके अभिन्न अंग हैं। जिस समय शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प तथा वलाहक नामक घोड़े सारथि दारुकके संकेतपर स्वर्णरथको लिये हवासे बातें करते, उस समय रथारूढ सूर्यके समान तेजस्वी श्रीकृष्णके प्रकाशसे लोगोंके नेत्र चकाचौंध हो जाते। अत्यन्त वैभवपूर्ण, सम्पन्न जीवनके बावजूद श्रीकृष्ण लौकिक सुखोंके प्रति असंपृक्त रहे। उन्हें सही अर्थोंमें तत्त्वज्ञानी, विचारक एवं योगी कहा जा सकता है। महासमाधिमें लीन होनेके समय भी योगेश्वर ध्यानमग्न थे।

श्रीकृष्णको समाजवादका वास्तविक प्रणेता माना जा सकता है। इस आकर्षक सिद्धान्तकी बौद्धिक, सैद्धान्तिक व्याख्या करनेकी अपेक्षा उन्होंने उसकी अपने दैनिक आचरणमें प्रतिष्ठा की। बाल-कन्हैयाका पालन-पोषण गोकुलके सम्पन्न परिवारमें हुआ। नन्दका परिवार अच्छा खाता-पीता, धन-धान्यसे पूर्ण था; तथापि कन्हैयाने बाल्यकाल सामान्य बालकोंकी भाँति निर्धन, गाय चरानेवाले चरवाहोंके साथ व्यतीत किया। धनी होनेपर भी साधारण लोगोंकी भाँति गोपालन करते हुए उन्होंने श्रमकी प्रतिष्ठा की। शोषक-वर्गके विरुद्ध प्रबल जनमत तैयार करनेके साथ निर्धन गोकुलवासियोंको संगठित किया। कंसके दानवीय अत्याचारों और आतंकके बावजूद गोकुलवासियोंका मनोबल, दृढ़-निश्चय प्रशसनीय था। ग्रामीणोंने कृष्णके नेतृत्वमें कंस तथा उसके परिवारके लिए दूध भेजना बन्द कर दिया। प्रकारान्तरसे आर्थिक-क्रान्तिके प्रथम चरणके रूपमें अवज्ञा-आन्दोलनका सूत्रपात हुआ और आन्दोलनका झंझावात कंसकी तानाशाही, साम्राज्य-वादको तिनकेकी भाँति उड़ा ले गया।

तेजस्वी, शक्तिसम्पन्न होनेके साथ श्रीकृष्णका समाजवाद नितान्त व्यावहारिक, यथार्थ-वादी एवं उपयोगितावादी था। भारतवर्ष जैसे कृषिप्रधान देशको आर्थिक-व्यवस्थामें गोधनके महत्त्वका अनुभव करते हुए उन्होंने गोसेवाको जीवनमें सर्वोच्च प्रतिष्ठा दी। धरती माँ, शक्ति माँकी भाँति गौको 'माता'का सर्वोच्च पद दिया। गायोंको अपने हाथसे नहलाना, धुलाना, वनोंमें स्वच्छन्द विचरणके लिए ले जाना, स्वयं हरी-हरी दूब काटकर लाना, सुयोग्यपुत्रकी भाँति गौकी सेवा करना समृद्धिका आधार है जिसे कर्मचारियों, अनुचरोंपर छोड़नेकी अपेक्षा स्वयं करना चाहिए। हमारे सामाजिक जीवन एवं उपयोगितासे असम्बद्ध होनेके कारण परम्परागत इन्द्र-पूजाके स्थानपर श्रीकृष्णने गोवर्धन-पूजा (जो संवर्धन-अभियान था) आरम्भ की, जिसका जन-साधारणकी जीविका, समृद्धिसे सीधा भावात्मक सम्बन्ध है। क्रुद्ध देवराजकी भयङ्कर वर्षा, बाढ़ भी क्रान्तिपथके बटोहियोंको विचलित न कर सकी। गोकुलके तटवर्ती पेय-जलको विषैला करनेवाले कालियका दमन करनेके लिए साहसी कन्हैया ने यमुनामें छलाँग लगा ही दी और जीवनका खतरा मोल लिया। अन्ततः कालिय पराजित हुआ, गोकुलको मुक्ति मिली। आत्मोत्सर्ग, सेवा और समर्पण कृष्णके समाजवादका अभिन्न अङ्ग है। उन्होंने ऐसे समाजवादकी प्रतिष्ठा की, जिसकी व्याप्ति आर्थिक-क्षेत्रसे परे राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पक्षोंको भी समेटती है।

वनवासके उपरान्त पाण्डवोंके प्रतिनिधिरूपमें दुर्योधनसे समझौता-वार्ता करनेके लिए कृष्णके हस्तिनापुर पधारनेपर दुर्योधनने 'साम और दाम' की नीतिके अनुसार अभूतपूर्व

स्वागतकी व्यवस्था की, जिससे प्रभावित होकर पाण्डवोंके प्रतिनिधिको अपने पक्षमें मिलाया जा सके। सच्चे समाजवादी श्रीकृष्ण राजसी ठाठ-बाट, सुख-सुविधा और सम्मानकी उपेक्षा करके सीधे विदुरके घर जा पहुँचे। स्वागतके लिए उपस्थित समस्त अधिकारी अवाक् रह गये। विदुर अपने टूटे-फूटे घरमें कृष्णको देखकर आश्चर्यचकित रह गये! महीनोंसे चल रही स्वागत-आयोजनोंकी तैयारीसे विदुरको स्वप्नमें भी ध्यान न था कि राजप्रतिनिधि उनके यहाँ पधार सकता है। बड़े संकोचसे उन्होंने साग प्रस्तुत किया। निर्धनके घर और हो भी क्या सकता था? कृष्णने बड़े स्वादसे भोजन ग्रहण करते हुए भूरि-भूरि प्रशंसा की और अपने सहज एवं आत्मीय व्यवहारसे निर्धन विदुरको मन्त्रमुग्ध कर लिया। राजसी, सुविधाप्राप्त लोगोंकी अपेक्षा सामान्य व्यक्तिको सर्वोच्च सम्मान!···समाजवादकी इससे श्रेष्ठ अभिव्यक्ति और क्या हो सकती है?

आर्थिक विषमताओंपर आधृत वर्गगत भेद और समाजवादमें परस्पर वैषम्य है। नीचेसे ऊपर उठनेवाले भी अपने मूल व्यवसायको न केवल भूल जाते हैं, बल्कि उपेक्षाकी दृष्टिसे देखने लगते हैं, जो हीनग्रन्थि अथवा अहंकारको जन्म देती है। यह प्रवृत्ति आगे चलकर सामाजिक असन्तोषको ज्वालामुखीमें परिणत कर देती है, जिसका अन्तिम फल होता है वर्ग-संघर्ष, असन्तोष और अमानवीय दृष्टिकोण! समाजवादको व्याख्या एवं प्रतिष्ठा करनेके समय श्रीकृष्ण इन खतरोंके प्रति पूर्ण सावधान थे। अतः समाजके बीच उन्होंने सदैव सामान्य जीवन व्यतीत किया। उनके गुणोंके कारण युधिष्ठिर द्वारा हस्तिनापुरमें आयोजित राजसूय-यज्ञमें सर्वसम्मतिसे (शिशुपालको छोड़कर) कृष्णको सर्वोच्च सिंहासन दिया गया। राजा, महाराजा, उच्चाधिकारी आगन्तुकोंके आवास एवं भोजनकी व्यवस्था, यज्ञकी अर्थव्यवस्थामें लगे थे। किन्तु अतिथियोंके स्वागत-सत्कारका कार्य सभीको अपनी प्रतिष्ठाके प्रतिकूल प्रतीत हुआ। अतः कोई इस दायित्वको लेनेके लिए तैयार नहीं था। लेकिन राजसूय-यज्ञमें सर्वोच्च सिंहासन पानेवाले श्रीकृष्णने अतिथियोका स्वागत-सत्कार करने, चरण धोने तथा चरण-पादुकाओंको रखने-उठानेका कार्य सहर्ष एवं स्वेच्छया अपने हाथमें लिया और सफलतापूर्वक सम्पन्न किया। अपने आचरणसे अबतक हेय समझे जानेवाले कार्यके महत्त्व और सम्मानको श्रीकृष्णने बढ़ाया। उन्होंने अपने आचरणसे सिद्ध कर दिया कि 'समाजवाद'का अर्थ है—जनसाधारणसे तादात्म्य, धनी निर्धनके भेदकी समाप्ति, धनकी अपेक्षा मानवीय गुणों एवं मूल्योंकी प्रधानता! कृष्ण इसी समाजवादके प्रायोगिक प्रवक्ता, प्रतिपादनकर्ता के साथ मूर्तिमान् रूप भी थे।

कृष्णने सम्पन्न घरानेकी सुख-सुविधा छोड़कर किसी उच्चवर्गीय मँहगे स्कूल-कालेजमें पढ़नेकी अपेक्षा, ऋषि सान्दीपनिके चरणोंमें बैठकर सुदामा-जैसे निर्धन व्यक्तिके साथ शिक्षा प्राप्तकी तथा शिक्षण-कालमें परम्परानुसार कठोर, तपस्यापूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए वे गुरुकी सेवा करते रहे। वर्तमान युगमें गला फाड़-फाड़कर समाजवादका नारा देनेवाले वक्ता और नेताओं अथवा उनके बच्चोंके, सामान्य स्कूलोंमें साधारण-निर्धन छात्रोंके साथ शिक्षा प्राप्त करनेकी कल्पना तक नहीं की जा सकती। समाजवादका अस्तित्व मात्र सुखद मृगमरीचिका बनकर रह गया है! युगद्रष्टाने प्रत्यक्ष अनुभव किया कि समाजवाद-विरोधी आर्थिक, सामाजिक विषमताके

विषैले संस्कार इन्हीं अभिजातवर्गीय तथा साधारण शिक्षण-संस्थाओंसे बच्चोंको मिलते हैं, जिनसे उनका व्यक्तित्व शैशवकालमें ही कुण्ठित हो जाता है। पाण्डवों, कौरवोंके राजकुमारोंको द्रोणाचार्य राजमहलमें शिक्षा देते थे। आर्थिक-दृष्टिसे सम्पन्न कृष्णके लिए भी ऐसी व्यवस्था असम्भव नहीं थी, किन्तु कृष्णने सामान्य आश्रममें सामान्य विद्यार्थीकी भाँति शिक्षा प्राप्त करते हुए अपने परिश्रम एवं साधनाका भरोसा करना श्रेयस्कर समझा।

द्वारिकापुरीके सम्राट् होनेके उपरान्त अपने निर्धन सहपाठियों अथवा मित्रोंको कृष्णने कभी भुलाया नहीं। जीर्ण-शीर्ण सुदामाका नाम सुनते ही सिंहासन छोड़कर, राजसी आचरणके प्रतिकूल नंगे पैर दौड़ते हुए अपने बालसखाका द्वारिकाधीशने जैसा स्वागत-सत्कार किया, उसका अन्यत्र उदाहरण नहीं मिलता। **'पानी परातको हाथ छुयो नहीं, नैननके जलसों पग धोये'** यह पद्य कृष्णके समाजवादी शाश्वत आदर्श एवं चरमोत्कर्षको इंगित करता है। सुदामाकी पोटलीसे बलात् छीनकर तीन मुट्ठी किनकी (टूटे चावल) खाने और उसके बदले बिना बतलाये एवं आत्म-विज्ञापन किये सुदामाको तीनों लोकोंका राज्य-ऐश्वर्य देनेवाले प्रसंगके पीछे समाजवादी अभिव्यक्तिकी उदात्त भावना ही निहित है।

काश, हम 'समाजवादका नारा' लगानेकी अपेक्षा श्रीकृष्णके समाजवादका एक प्रतिशत भी अपने जीवनमें कहीं उतार पाते! विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करनेवालोंके मुखसे 'समाजवादकी' चर्चा अथवा उपदेश समाजकी नियतिके प्रति क्रूर-उपहास प्रतीत होता है। यदि हम वस्तुतः निर्धनता समाप्त करके समाजवादकी प्रतिष्ठा करना चाहते हैं, तो श्रीकृष्णके समाजवादको जीवनमें आत्मसात् करने एवं अनुशीलन करनेके अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है। धर्मनिरपेक्षताके नामपर श्रीकृष्णकी उपेक्षा करनेकी अपेक्षा संकुचित मनोवृत्तिको छोड़कर योगेश्वर कृष्णके विराट् व्यक्तित्वका साक्षात्कार करना होगा। समाजवादी प्रक्रियाको चिन्तन, प्रवचनकी सीमाओंके पार उस केन्द्रविन्दु तक ले जाना होगा जहाँ कथनी, करनी, उपदेश और आचरण एकाकार हो जाते हैं। अद्वैतवादी ब्रह्म और जीवकी भाँति, जहाँ केवल कार्यान्वयन, अनुशीलन और एकरूपता है।

●

दृढ़तासे लगे रहो

यदि तुम दृढ़तासे लगे रहो तो जो स्थायी भक्ति और सिद्धि तुम चाहते हो उसे प्राप्त करनेमें तुम विफल नहीं होओगे। किन्तु तुम्हें यह सीखना होगा कि श्रीकृष्णपर पूरी तरह निर्भर करो : जब वे तुम्हारी सब तैयारी देख लें और जब कि समय आये तब तुम्हें भक्ति दें।

—श्री अरविन्द

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान कारागार ही था न कि कंसका महल

श्री पं० केशवदेव पाण्डेय

★

श्रीकृष्ण-सन्देशके वर्ष ६ के अङ्कमें आचार्य श्री सीतारामजी चतुर्वेदीका एक लेख प्रकाशित हुआ था, जिसमें कंसके महलको ही भगवान्‌का जन्मस्थान सिद्ध किया गया है। तदनन्तर श्री जयदयालजी डालमियाका वर्ष ७ अङ्क १२ में एक लेख प्रकाशित हुआ, जिसमें चतुर्वेदीजीके मतसे सर्वथा विपरीत कंस-कारागारको ही श्रीकृष्ण-जन्मस्थान निश्चित किया गया है। इस लेखपर उल्लिखित सम्पादकीय टिप्पणीसे प्रेरित होकर मैं भी इस विषयमें अपना विचार प्रस्तुत करता हूँ। मेरी धारणाके अनुसार शास्त्रीय प्रमाण और लोकमान्यता दोनों ही दृष्टियोंसे कारागार ही भगवान्‌का जन्म-स्थान सिद्ध होता है।

यहाँ ज्ञातव्य है कि यह कारागार सामान्य वन्दी-जनोंके लिए नियत बन्दीगृहसे भिन्न एक विशिष्ट कारागार था। विशिष्ट व्यक्तियोंके लिए विशेष व्यवस्था सदा और सर्वत्र होती ही रही है। कंसका बहिन देवकीके प्रति बड़ा स्नेह था और वह बड़े उत्साहसे स्वयं रथ हाँककर उसे पतिके घर पहुँचाना चाहता था। किन्तु मार्गमें आकाश-वाणी सुनकर उसका विचार सहसा बदल गया और वह उसके वधके लिए उद्यत हो गया। इस प्रसंगके आरम्भमें श्रीमद्भागवतके निम्नाङ्कित श्लोककी व्याख्या करते समय पूज्यपाद जीवगोस्वामीने जो विचार व्यक्त किया है, वह द्रष्टव्य है। श्लोक इस प्रकार है :

तस्यास्तु कर्हिचिच्छौरिर्वसुदेवः कृतोद्वहः।
देवक्या सूर्यया सार्धं प्रयाणे रथमारुहत्॥

इसकी व्याख्यामें गोस्वामिपाद लिखते हैं :

तत्रैव बन्धनागारे श्रीभगवतो जन्म वक्तुं तत्प्रसङ्गमारभते।

(वैष्णव-तोषिणी)। इस उद्धरणसे सिद्ध है कि श्रीजीवगोस्वामी कारागारको ही भगवान्‌का जन्म-स्थान मानते हैं।

वसुदेवजीने बहुत-कुछ समझाया और देवकीके पुत्रोंको जन्म लेते ही कंसके हाथमें दे देनेका विश्वास दिलाया, तब उनके कथनकी सचाईपर विश्वास करके वह बहिनके वधसे विरत हो गया। वसुदेवजी भी उसकी प्रशंसा करते हुए अपने घर गये।

स्वसुर्वधान्निववृते कंसस्तद्वाक्यसारवित्।
वसुदेवोऽपि तं प्रीतः प्रशस्य प्राविशद् गृहम् ॥

इस श्लोककी व्याख्यामें सुबोधिनीकार श्री वल्लभाचार्य लिखते हैं : 'जब कंस भगिनी-वधसे निवृत्त हुआ, तो स्वयं रथ हाँककर उसने वसुदेवजीको उनके घरतक पहुँचा दिया—ऐसा निश्चय होता है। घर तकका रास्ता समाप्त हो जानेके कारण वसुदेवजीने कंसको साधुवाद देकर घरमें प्रवेश किया।' इस उल्लेखसे वसुदेवजीका निवास-स्थान कंसके महलसे सर्वथा भिन्न सिद्ध होता है। जब देवकीका प्रथम पुत्र उत्पन्न हुआ और वसुदेवजीने स्वयं ले जाकर उसे कंसके हाथमें दे दिया, तो उसने उस बालकको लौटा दिया और वसुदेवजी उसे लेकर फिर अपने घर चले गये। इस अवसरपर प्रयुक्त हुए 'प्रतियातु' और 'ययौ' ये दोनों पद 'वसुदेवका वासस्थान कंसके महलसे भिन्न था' इस बातको सिद्ध करते हैं। ब्रह्मा आदि देवताओंने उस कारागारमें ही आकर गर्भस्थित भगवान्की स्तुति की थी, यह 'तत्रैत्य' इन पदोंसे सिद्ध है।

कंस द्वारा वसुदेव-देवकीके निवासार्थ निर्दिष्ट वह कारागार सामान्य बन्दी-गृहोंसे भिन्न, सप्त द्वारोंसे मण्डित एवं प्रशस्त था। साथ ही राजमहलसे सर्वथा भिन्न भी था। इस तथ्यकी सिद्धि निम्नांकित वचनसे होती है :

देवकीं वसुदेवं च सप्तद्वारे ररक्ष च।
(ब्र० वै० कृष्ण० ७.४२)

इसी प्रकार—

इत्यादिश्य ततः कंसं वसुदेवं च देवकीम्।
आश्वास्य मोचयित्वाऽथ स्ववेश्मान्तर्विवेश ह ॥
(पद्म० उ० २४५.६२)

यह पद्य भी देवकी-वसुदेवके निवास-स्थानसे कंसके निवास-स्थानकी भिन्नता सिद्ध करता है। इसके सिवा—

तयाऽभिहितमाकर्ण्य कंसः परमविस्मितः।
देवकीं वसुदेवं च विमुच्य प्रश्रितोऽब्रवीत् ॥ (भाग० १०.४.१४)
मां खेदयत्येतदजस्य जन्म विडम्बनं यद् वसुदेवगेहे। (भाग० ३.२-१६)

—इन पद्योंकी श्रीधरी, वीरराघवीया तथा चक्रवर्तीया टीकाएँ भी सिद्ध करती हैं कि भगवान्का प्रादुर्भाव राजभवनसे भिन्न कारागारमें ही हुआ था।[1]

---

१. देखिये : "विमुच्य=कारागारान्निसार्य, विश्वब्धेन रक्षिसंकोचाच्च। निगडान्मोचनं तु अग्रे वक्ष्यते चतुर्विंशतितमे पद्ये—'मोचयामास निगडाद् विस्रब्धः कन्यकागिरा।'

श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धमें आये वर्णनके अनुसार जब बदरिकाश्रमके लिए प्रस्थान करते समय उद्धवजीके साथ विदुरजीका संवाद हुआ था, उस प्रसंगमें विदुर यह स्पष्ट शब्दोंमें प्रतिपादित करते हैं कि भगवान्का आविर्भाव भोजराज कंसके कारागारमें हुआ था, न कि राजमहलमें। यथा :

वसुदेवस्य देवक्यां जातो भोजेन्द्रबन्धने।
चिकीर्षुर्भगवानस्याः शमजेनाभियाचितः॥ (भाग० ३.२.२५)

'भोजेन्द्रबन्धने'का अर्थ राज-भवन कदापि नहीं हो सकता। इसी प्रकार देवी-भागवतमें वर्णित जन्म-प्रसंग भी इसी मतकी पुष्टि करता है।

कारागारे ततः कंसो देवकीं देवसंस्तुताम्।
स्थापयामास रक्षार्थं सेवकान् समकल्पयत्॥ (भाग० ४.२३.६)

कंसने देवसंस्तुता देवकीको कारागारमें रखा और रक्षाके लिए सेवक नियुक्त कर दिये। इस व्यवस्थाके बाद भी वह दानव भयसे विह्वल ही रहा और वहाँसे अपने महलमें जाकर भी सुखसे न बैठ सका (देखिये देवीभा० ४.२३.१४)। यहाँ कंस और देवकीके निवास-स्थान स्पष्टतः एक-दूसरेसे भिन्न प्रतिपादित हुए हैं। देवीभागवत (४.२३.२१ तथा तथा ४.२३.२७) के अनुसार भगवान्का जब जन्म हुआ, तब उनके सुन्दर बालरूपको देखकर देवकीको बड़ा विस्मय हुआ। आकाशवाणी द्वारा बालकको गोकुलमें पहुँचानेका आदेश मिला। तथा आठों दरवाजे खुल गये। ब्रह्मवैवर्त-पुराणके पूर्वोक्त वर्णनके अनुसार भवनके सात द्वारोंके साथ एक नगर-द्वारकी गणना कर लेनेपर आठ दरवाजोंकी संगति बैठ जाती है।

उपर्युक्त विवेचनसे सिद्ध हो जाता है कि कारागारमें ही भगवान्का जन्म हुआ। कंसके राज-भवनको श्रीकृष्ण-जन्मस्थान होनेका सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ।

आचार्य चतुर्वेदीजीके कथनानुसार—

देवकीं वसुदेवं च निगृह्य निगडैर्गृहे।
जातं जातमहन् पुत्रं तयोरजनशङ्कया॥

'इस श्लोकके 'गृहे' पदका स्पष्ट अर्थ 'घरमें' है और 'निगृह्य'का लाक्षणिक अर्थ 'कड़े पहरेमें' है। यदि वाच्यार्थ भी ग्रहण किया जाय, तो अर्थ होगा बेड़ी डालकर। किन्तु कारागार अर्थ किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता।'

इस विषयमें मेरा निवेदन है कि संस्कृत शब्दोंका अर्थ संस्कृत-साहित्य-सरणिके अनुसार ही करना चाहिए, न कि मनमाने ढंगसे। श्रीभर्तृहरिने 'वाक्यपदीय'में संयोग, विप्रयोग आदिको अभिधेयार्थका नियामक बताया है। उन्हीं नियामकोंमें एक 'प्रकरण' भी है। यहाँ भगवज्जन्मका

वसुदेवगेहे (बन्धनागारे) यज्जन्मनो विडम्बनम्—अनुकरणम्, न तु नृसिंहवद-कस्मादाविर्भावः' इति श्रीधरी वीरराघवीया च। वसुदेवगेहे = कंसकारागारे यज्जन्म एतन्मां खेदयति, इति चक्रवर्ती।"

प्रकरण प्रस्तुत है। पूर्वोक्त प्रमाणोंसे कारागारमें ही भगवान्‌का जन्म हुआ—यह सिद्ध हो चुका है। अतः यहाँ 'गृहे' पदका अर्थ कारागार ही न्यायसंगत होगा। भागवतके लब्धप्रतिष्ठ व्याख्याकार वीरराघवाचार्यने 'गृहे'का अर्थ कारागार ही किया है। राज-भवन अर्थ लेना सर्वथा प्रकरणके विरुद्ध होगा। 'गृहे'का अर्थ 'घरमें' किया जाय तो भी वह घर प्रकरणानुसार 'कारागार' ही है, 'कंसका राजमहल' नहीं। जैसे 'सत्या'का अर्थ सत्यभामा होता है, 'भीम'का अर्थ भीमसेन होता है, उसी प्रकार 'गृह'का अर्थ यहाँ प्रकरणानुसार कारागृह होना असंगत नहीं है। टीकाकारोंने 'निगड' शब्दका अर्थ 'शृङ्खला' किया है। शृङ्खला कहते हैं साँकल या जंजीरको। कड़ा पहरा 'निगड'का अर्थ कदापि नहीं है। मुख्यार्थका बाध होनेपर ही लाक्षणिक अर्थ लिया जाता है, अन्यथा नहीं। आचार्यजीने वाच्यार्थको भी ग्रहण किया ही है।

संमान्य चतुर्वेदीजीने अपनी बातकी सिद्धिके लिए श्रीमद्भागवतके (१७,२.१९–२०) दो श्लोकोंका उल्लेख करके यहाँ आये हुए 'भोजेन्द्रगेहे' इस पदका सहारा लिया है। 'भोजेन्द्र-गेहे'का अर्थ आपने इस प्रकार किया है : 'कंसके भवनमें (कारागारमें नहीं)।' किन्तु यहाँ 'कारागारमें नहीं' इस तरहका निश्चय करानेवाला कोई प्रमाण नहीं है। 'भोजेन्द्रगेहे'का अर्थ पूर्वोक्त पद्धतिसे 'राजभवन' नहीं होगा, कारागार ही करना पड़ेगा। 'भोजेन्द्रनिर्दिष्टे गेहे'के अर्थमें 'भोजेन्द्रगेहे'का प्रयोग है। यहाँ मध्यमपदलोपी समास है। जैसे 'शाकप्रियः पार्थिवः'में 'प्रिय' इस मध्यम पदका लोप कर देनेसे 'शाकपार्थिवः' बनता है; वैसे ही यहाँ भी उक्त अर्थ लेना होगा। प्रकरण-विरुद्ध अर्थ कदापि न्यायसंगत नहीं होगा। कारागार-अर्थमें तो अन्य सभी आचार्योंकी भी सहमति है।

यदि राजभवन ही जन्मस्थान होता, तो वहाँ हर समय पहरेदार तैनात रहते ही थे। विशेष रक्षकोंकी नियुक्तिकी क्या आवश्यकता थी? उक्त व्यवस्था यह सूचित करती है, कि वह स्थान राजभवनसे भिन्न था। **स तल्पात्तूर्णमुत्थाय**··· आदि श्लोकके अनुसार बालकके जन्मको सूचना पाकर कंस दौड़ता और रास्तेमें ठोकर लगनेसे लड़खड़ाता हुआ सूती-गृहमें पहुँचा। उक्त श्लोकमें 'प्रस्खलन्' और 'मुक्तमूर्धजः' ये पद यह सूचित करते हैं कि कंसको उस गृहके मार्गका पूर्ण परिचय नहीं था तथा उसे अपने शरीरकी भी सुध-बुध नहीं रही। यदि राजभवनमें ही सूती-गृह होता, तो कंसको उसके मार्गका पूर्ण परिचय था ही; फिर वहाँ पहुँचनेमें उसके लड़खड़ाने और केशोंके खुलनेकी स्थिति कैसे आती?

देवीभागवतके (४.२३.२८–२९) दो श्लोकोंमें आये हुए वर्णनके अनुसार यह सिद्ध है कि जहाँ भगवान्‌का जन्म हुआ, वह सूतिकागार कारागारमें ही था। देवकीने अपनी प्रभासे उस कारागृहको ही उद्भासित किया था, जिसमें वे रखी गयी थीं।

आगे आचार्यजीने लिखा है कि 'भगवान् गर्भमें आ गये हैं, यह बात 'गुहां श्रितः' पदसे प्रतिपादित की गयी है।' किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं; क्योंकि गुहा-शब्दका अर्थ गृह नहीं, गुफा होता है। यह 'गुहा' शब्द हृदय-गुहाको लक्षित करता है। **गुहां प्रविश्यात्मानौ हि तद्दर्शनात्।** इस ब्रह्मसूत्रमें गुहाशब्द हृदय-गुहाका ही बोधक माना गया है। गर्भमें जीव आता है, भगवान् नहीं। भगवान् तो हृदय-गुफामें स्थित रहते ही हैं,

वहीं उनका आवेश होता है। गर्भवासकी यातना उनका स्पर्श भी नहीं कर सकती। भगवान् पहले वसुदेवजीके मनमें आये, फिर वहाँसे उन्होंने देवकीके हृदयको अपना निवास बनाया। यही भाव श्रीमद्भागवतके वचनोंमें प्रतिपादित हुआ है। 'ब्रह्मवैवर्त-पुराण', कृष्णजन्म-खण्ड (७.४३) में स्पष्ट कहा गया है कि **गर्भे च वायुना पूर्णे निर्लिप्तो भगवान् स्वयम्**। देवकीके गर्भमें वायु भरी थी, भगवान् स्वयं तो उससे निर्लिप्त थे। उन्होंने तो देवकीके हृदय-कमलमें ही अपना अधिष्ठान बनाया था।

श्री चतुर्वेदीजी आगे लिखते हैं: 'भगवत्प्रेरणासे वसुदेवजी बालकृष्णको लेकर जब सूतिका-गृहसे (कारागारसे नहीं) बाहर निकलनेको हुए, उसी समय...योगमाया उत्पन्न हुई।' किन्तु 'सूतिका-गृह' शब्दके विवरणमें टीकाकारोंने प्रसव-स्थान लिखा है। जब भगवान्का जन्म कारा-गृहस्थ सूतिका-गृहमें हुआ, तो इससे कारागारका निषेध कैसे हो सकता है? वसुदेवजीके लौटने-पर 'बालकका रोना सुनकर गृहपाल (कारागृह-पाल नहीं) जाग उठे। 'गृहपाल'का अर्थ घरका चौकीदार है; जेलका सन्तरी नहीं।' चतुर्वेदीजी की यह उक्ति भी चिन्तनीय है। यहाँ 'गृह-पालाः' पदकी व्याख्या भगवतके माननीय टीकाकारोंने इस प्रकार की है: 'गृहपालाः = रक्षिणः (कुक्कुरा इव)' इति वैष्णव-तोषिणी। 'गृहपालाः—वसुदेवाधिष्ठितकारागृह-पालाः.' इति वीर-राघवीया (भागवतचन्द्रिका)। 'सूतिगृहरक्षकाः' इति सुबोधिनी। इन व्याख्याओंके अनुसार गृहपालका अर्थ कारागृहपाल होनेमें कोई बाधा नहीं है। श्री चतुर्वेदीजी द्वारा स्वयं समुद्धृत (भाग० १०.३.४८) श्लोककी व्याख्यामें जीवगोस्वामीने 'द्वास्थाः'का अर्थ 'द्वारस्थिता रक्षिणो मथुराद्वारपालाश्च' किया है; जो विष्णुपुराणके निम्नाङ्कित श्लोकसे सर्वथा मिलता-जुलता है।

मोहिताश्चाभवंस्तत्र रक्षिणो योगनिद्रया।
मथुराद्वारपालाश्च व्रजत्यानकदुन्दुभौ॥

इसके अनुसार 'द्वारपाल' शब्दसे वसुदेवाधिष्ठित गृहके रक्षक एवं मथुरानगरीके रक्षक लिये जा सकते हैं। ऐसी दशामें 'कारागृहपाल नहीं' यह कथन कैसे संगत हो सकता है?

आगे चलकर **देवकी च गृहे गुप्ता प्रच्छन्नैरभिरक्षिता** आदि पद्योंको उद्धृत करके श्री चतुर्वेदीजीने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है: 'देवकी-वसुदेव अपने घरमें मथुरामें ही रहते थे। उनपर नियुक्त गुप्तचर राजभवनकी स्त्रियां छिपी दृष्टिसे उनकी गतिविधि देखती थी।' किन्तु उनके द्वारा उद्धृत पद्योंमें कोई ऐसा शब्द नहीं है, जिससे देवकीका अपने गृहमें रहना सिद्ध हो सके। पद्यार्थ तो केवल मन्त्रियोंको दी गयी चेतावनी या सावधानीको ही सूचित करता है।

फिर आगे चलकर यह विचार व्यक्त किया गया है कि 'नन्द-यशोदा भी मथुरामें ही रहते थे।' इस कथनके लिए प्रमाणरूपसे यह पद्य उद्धृत किया गया है:

वसुदेवस्तु संरक्ष्य दारकं क्षिप्रमेव च।
यशोदाया गृहे रात्रौ विवेश सुतवत्सलः॥

महामना और महात्मा

★

सन् १९४६ की बात है।

शिमला जानेके पहले गांधीजी दिल्लीमें हमारे देशके ८५ वर्षके वृद्ध नेता महामना मालवीयजीसे विदा और आशीर्वाद लेने पहुँचे। बादशाह खाँ अब्दुल गफ्फार खाँ भी उनके साथ थे। सोमवारका दिन था। गांधीजी मौन थे। इसलिए बातचीतका उत्तर लिखकर ही दे रहे थे। मालवीयजी अपने बिस्तरपर तकियेके सहारे बैठे थे। गांधीजीने पूछा : 'सब लोग तो शिमला जा रहे हैं, आप यहाँ रहकर क्या करेंगे ?' मालवीयजीने उत्तर दिया, 'काशी लौट जाऊँगा।' इससे गांधीजीको कुछ ढाढस हुआ। उन्हें भय था कि कहीं उमंगमें आकर मालवीयजी शिमला जानेकी न ठान लें। उनकी अवस्था और उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं था, पर थे वे बहुत चेतन।

उनकी इस चेतनापर आश्चर्य प्रकट करते हुए गांधीजीने पूछा : 'आप यह सब चिन्ता कब छोड़ेंगे ?'

मालवीयजीने विनोदभरी आँखोंसे उत्तर दिया : 'जब चिन्ता छोड़े।

'तो मेरे जैसे जवानके लिए क्या कुछ नहीं छोड़ेंगे ? इससे मैं और जवान हो जाऊँगा।' —गांधीजीने लिखकर पूछा।

इस श्लोकके शब्दार्थसे यही सूचित होता है कि 'पुत्रवत्सल वसुदेवने बालकको अपने साथ ले रात्रिकालमें यशोदाके घरमें प्रवेश किया।' इससे यह नहीं सिद्ध होता कि 'उनका घर मथुरामें ही था और उन्हें रातको यमुना पार करके गोकुल या महावनमें नहीं जाना पड़ा था।' वास्तवमें ऐसी कल्पना अश्रुतपूर्व तथा प्रमाणोंसे असंगत भी है। यदि नन्दका घर मथुरामें भी था, तो जब कंसके धनुर्यज्ञोत्सवमें संमिलित होनेके लिए नन्दादि गोप भगवान् कृष्णको साथ ले मथुरामें आये, तो उन्हें वहाँ उद्यानमें न ठहरकर अपने घरमें ही डेरा डालना चाहिये था। वसुदेवजाने अष्टम पुत्रके होनेकी सूचना स्वयं कंसको दी—यह कल्पना भी सर्वथा असंगत एवम् अप्रामाणिक है। 'नन्द यशोदाके साथ वार्षिक कर चुकाने आये थे', यह मत भी बहुत-से प्रमाणोंके विरुद्ध है। किसी वचनके अनुसार कभी किसी कल्पमें ऐसा हुआ भी हो, तो इससे मुख्य विषयपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः यह निर्भ्रान्त सत्य है कि श्रीकृष्णका जन्मस्थान कंसका कारागार ही है, उसका महल नहीं।

●

'यह भी जवान अभी बहुत दिनोंतक जवान रहनेवाला है।'—मालवीयजीने बहुत धीमे स्वरमें प्रेमभीनी दृष्टिसे' देखकर कहा।

पर गांधीजी भला कब हारनेवाले थे। उन्होंने मालवीयजीसे कहा : 'आप अपना जो भी बोझ मुझपर छोड़ना चाहते हैं, छोड़ दीजिये; पर आप सब चिन्ता छोड़ दें और मुझे अपनी शक्ति दें।'

'भगवान्‌का नाम जपनेसे बढ़कर कोई शक्ति नहीं।' मालवीयजीने उत्तर दिया।

'नाम जपना तो निरन्तर चलता ही रहता है, पर आपका-सा ज्ञान कहाँसे लाऊँ? यह चापलूसी नहीं। मेरे पास सचमुच 'भागवत' और 'महाभारत'का ज्ञान नहीं है।'

'पर आपके पास राम-नामका ज्ञान तो है न? वही सारे ज्ञानका निचोड़ है।'

'निचोड़ है यह तो मैं जानता हूँ। फिर भी आपके ज्ञानसे ईर्ष्या तो है ही। अच्छा तो अब आज स्वस्थ हो जाइये और उसीमें अपना सारा ज्ञान लगा दीजिये।'

'मैं ठीक हो जाऊंगा!'—मालवीयजीने कहा।

उसी समय मालवीयजी महाराजके पुत्र राधाकान्तजीने गांधीजीको बताया कि "वनस्पति घीके विषयमें आपका जो लेख 'हरिजन'में निकला था, वह मैंने पिताजीको पढ़कर सुनाया था। वह उन्हें बहुत अच्छा लगा था।"

तत्काल मालवीयजी बोले : 'यह वनस्पति घी बड़ी डरावनी वस्तु है। एक ओर वनस्पति घीका फैलना और दूसरी ओर गौओंकी हत्या दोनोंके बीच लोगोंके जीवनकी जड़ कटती जा रही है, मानो जान-बूझकर यह सब किया जा रहा है। गौके दूधके सम्बन्धमें आपने जो कुछ किया है और कर रहे हैं, उससे मैं बहुत प्रसन्न हूँ।'

गांधीजीने कहा : 'मैं तो करता ही रहूँगा, पर हमें इसमें अपने व्यापारियोंकी सहायता चाहिए। ऐसा होनेपर ही ठीक योजना चल सकती है। अच्छा अब आज्ञा दीजिये।'

गांधीजीने नमस्कार किया और मालवीयजीने मुसकराकर विदा और आशीर्वाद देते हुए बहुत धीमे स्वरमें यह पद पढ़ा :

अपनेको नहिं भूल,
जँह रहिए तहँ मँहकिये, ज्यों गुलाबको फूल।

●

उत्कृष्ट योगी

अपनेको ही उदाहरण बनाकर देखो। सर्वत्र समतापूर्ण दृष्टि रक्खो। तुम्हें जब, जहाँ, जिस परिस्थितिमें सुख या दुःख होता है, उसी तरह दूसरे प्राणियोंको भी होता है। ऐसा विचार करके जो सर्वत्र समदर्शी होता है वही उत्कृष्ट योगी माना गया है। (गीता ६.३२)

देवताको मैं बुला लूँ !

यह निछावर प्राण करके
प्राणमें जीवन जगा दूँ।

देवताको मैं बुला लूँ॥

स्वाँसकी ही आरती है
ज्योति उसमें यदि जगा दो।
चेतना ही साधना है
भय-भरा भ्रम यदि भगा दो।
त्राण-चिन्ता छोड़ करके—

विश्वमें उत्सव मना लूँ।
देवताको मैं मना लूँ॥

नृत्य मेरा यह सफल हो
रागिनी हो यदि तुम्हारी।
भक्ति मेरी हो सफल प्रभु!
दामिनी हो यदि तुम्हारी।
छेड़ दूँ इन नूपुरोंको—

और गतिमें स्वर जगा दूँ।
देवताको मैं मना लूँ॥

तुम मिलो, तो छोड़ दूँ, प्रभु
विश्वकी सब लालसाएँ।
और चरणोंपर चढ़ा दूँ,
पुष्प-सी ये कामनाएँ॥
यह निछावर प्राण कर—

'सीतेश' में जीवन जगा दूँ।
देवताको मैं मना लूँ॥

— श्री 'सीतेश' श्रीवास्तव

महामना मालवीयजी

★

स्व० पण्डित मदनमोहन मालवीयजीकी जयन्ती दिसम्बर २५ को मनायी जाती है। इस अवसरपर उनके आदर्श बाल-जीवनका संक्षिप्त वर्णन उनके अपने शब्दोंमें :

"मैं लड़कपनमें बड़ा सन्न और चैतन्य रहता था। मेरे मुहल्लेमें एक घुरहू साहु रहते थे। वे मुझे 'मस्ता' कहा करते थे।

"जब मैं पांच वर्षका हुआ, तब मेरा विद्यारम्भ कराया गया। उस समय प्रयागमें अहियापुर मुहल्लेमें कोई पाठशाला नहीं थी। लाला मनोहरदास रईसकी कोठीके चबूतरेपर, जो तीन सवा तीन फुट चौड़ा और १०-१५ फुट लम्बा था, टाट बिछाकर एक गुरुजी लड़कोंको महाजनी पढ़ाया करते थे। गुरुजी कहीं पश्चिमके रहनेवाले थे। वे पहाड़ा पढ़ाते थे। मैंने पहले-पहल वहांसे पढ़ना प्रारम्भ किया। वहांसे हरदेवजीकी पाठशालामें चला गया। उसका नाम था : 'धर्मज्ञानोपदेश-पाठशाला।'

"पण्डित हरदेवजी मथुराकी तरफके थे। भागवतके अच्छे विद्वान् और योग्य साधक थे। गौ पालते और विद्यार्थियोंको दूध भी पिलाया करते थे।

"धर्मज्ञानोपदेश-पाठशाला सवेरे छ: बजे शुरू होती थी। साढ़े नौ बजे घण्टी बजती तब सब लड़के सभा-भवनमें आ जाते थे। जब सब जमा हो जाते, तब कोई एक विद्वान् या ऊपरकी श्रेणीका कोई विद्यार्थी पण्डितजीके आदेशके अनुसार कोई एक श्लोक पढ़ता था। उसके एक-एक टुकड़ेको सब विद्यार्थी दोहराते जाते थे। इस प्रकार सब विद्यार्थियोंको मनुस्मृति, गीता और नीतिके कितने ही श्लोक कण्ठ हो गये थे। मुझे कुछ श्लोक और स्तोत्र पिताजीने भी याद करा दिये थे। आजतक मेरे मूलधनकी पूंजी वही है।

"पण्डित हरदेवजी संगीतके भी बड़े प्रेमी थे। पहले उन्होंने एक अक्षर-पाठशाला भी खोली थी। धार्मिक शिक्षाकी तरफ गुरुजीका जादा ध्यान था। साथ ही साथ शारीरिक बल बढ़ानेकी शिक्षा भी वे देते थे। पाठशालामें वे कुस्ती भी लड़वाते थे।

"हरदेवजीकी पाठशालामें मैं संस्कृत, लघुकौमुदी आदि पढ़ता था। यह पाठशाला अब मेरे मकानके पास दक्षिणकी तरफ है और हरदेवजीको पाठशालाके नामसे प्रसिद्ध है। यह पाठशाला अबतक कायम है और इसमें संस्कृत-कॉलेजकी आचार्य परीक्षाके लिए विद्यार्थी तैयार किये जाते हैं। प्रान्तीय संस्कृत-पाठशालाओंमें इसका स्थान ऊंचा है।

आठ वर्षकी अवस्थामें मेरा यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ। पिताजीने ही गायत्री-मन्त्रकी दीक्षा दी थी।

शायद सन् १८६८ में गवर्नमेण्ट हाईस्कूल खुला। मेरी इच्छा अंग्रेजी पढ़नेकी हुई। माताजीसे आज्ञा लेकर मैं स्कूलमें भर्ती हो गया। उस समय फीस बहुत कम लगती थी। मेरे भाईको तीन आने देने पड़ते थे और मुझे डेढ़ आना।

अंग्रेजी शुरू करनेके बाद मैं संस्कृतमें कम ध्यान देने लगा। तब चाचाने मेरी माँसे कहा : 'इसको अंग्रेजी पढ़नेमें क्यों लगा दिया है? संस्कृत पढ़ता तो बड़ा पण्डित होता?' मुझपर इसका प्रभाव पड़ा और मैं स्कूल तथा कॉलेजमें संस्कृत पढ़ता चला गया।

१६ वर्षकी अवस्थामें मैंने एण्ट्रेन्स पास किया। एण्ट्रेन्स पास करनेके बाद मैं 'म्योर सेंट्रल कॉलेज'में पढ़ने लगा। कॉलेजमें 'फ्रेन्डस डिबेटिंग सोसाइटी' थी। उसमें मैंने पहला भाषण अंग्रेजीमें दिया। वह इतना अच्छा समझा गया कि इंस्टिट्यूट-सेक्रेटरी लाल साँवलदासने मेरी पीठ ठोकी और बड़ी प्रशंसा की।

मैं जब बी० ए० पास हुआ, घरमें गरीबी बहुत थी। घरके प्राणियोंको अन्न-वस्त्रका भी क्लेश था। मामूली-सा घर था। घरमें एक गाय थी। माँ अपने हाथोंसे सानी चलाती और उसका गोबर उठाती थीं। स्त्री आधा पेट खाकर सन्तोष कर लेती थी और फटी हुई धोतियाँ सीकर पहना करती थी। मैंने बहुत वर्षों बाद एक दिन उससे पूछा : 'तुमने कभी साससे खाने-पहननेके कष्टकी शिकायत नहीं की?' 'स्त्रीने कहा : 'शिकायत करके क्या करती? वे कहाँसे देतीं? घरका कोना-कोना जितना वे जानती थीं, उतना ही मैं जानती थी। मेरा दु:ख सुनकर वे रो देतीं, और क्या करतीं?'

बी० ए० पास होनेके बाद मेरी इच्छा बढ़ी कि बाबा और पिताके समान मैं भी कथा कहूँ और धर्मका प्रचार करूँ? किन्तु घरकी गरीबीसे सब प्राणियोंको दु:ख हो रहा था। उन्हीं दिनों उसी गवर्नमेण्ट-स्कूलमें, जिसमें मैं पढ़ता था, एक अध्यापकको जगह खाली हुई। मेरे चचेरे भाई पण्डित जयगोविन्दजी उसमें प्रधान। पण्डित थे, उन्होंने मुझसे कहा कि 'जगहके लिए कोशिश करो।' मेरी इच्छा धर्म-प्रचारमें अपना जीवन लगा देनेकी थी। मैंने ना ही कर दी। उन्होंने माँसे कहा।

माँ मुझे कहनेके लिए आयी। मैंने माँ की ओर देखा। उसकी आँखें डबडबा आयी थीं। वे आँखें मेरी आँखोंमें डूब गयीं और मैंने अविलम्ब कहा : माँ, 'तुम कुछ न कहो। मैं नौकरी कर लूँगा।' जगह ४० रु० महीनेकी थी। मैंने इसी वेतनपर स्कूलमें अध्यापककी नौकरी कर ली। दो महीने बाद मेरा मासिक ६० रुपया हो गया।

स्वास्थ्यके तीन खम्भे हैं—आहार, शयन और ब्रह्मचर्य। तीनोंका युक्तिपूर्वक सेवन करनेसे स्वास्थ्य अच्छा रहेगा। मैंने वह आहार किया है, जो राजा-महाराजाओंको दुर्लभ है। राजा-महाराजा नौकरके हाथका बनाया भोजन पाते हैं, जो प्रेमसे नहीं, बल्कि वेतन लेकर भोजन बनाते है। मैंने बालपनसे लेकर युवावस्थाके अन्ततक माता, सास, बहन और सालीके

हाथका भोजन पाया है, जो प्रत्येक दिन मेरी रुचिका स्वादिष्ठ भोजन बड़े प्रेमसे बनाती और बड़े प्रेमसे खिलाती थीं।

लड़कपनमें माता मुझे आधा पाव ताजा मक्खन रोज खिलाती थीं। सवेरे मोहन-भोग खानेको मिलता था। एक डॉक्टरने कहा था कि ज्यादा मक्खन खाना व्यर्थ है, क्योंकि वह थोड़ा ही पचता है, शेष यों ही निकल जाता है। माताने कहा : 'तुम डॉक्टरको कहने दो, तुम एक छटाक मक्खन और एक सेर दूध रोज लिया करना। तबसे अब तक मैं मक्खन और दूध उसी परिणाममें रोज लेता हूँ, जैसा कि माताने बताया था।'' —'भारतवाणी'से

विनोबाजी एक याददाश्त सुनाते हैं :

१९२४ की बात है। बापूके उपवासका समय था। बाबा भी दिल्लीमें थे। रोज-शामको प्रार्थनाके बाद कुछ कहा करते थे। एक दिन पण्डित मालवीयजी प्रार्थनामें उपस्थित थे। बादमें बाबासे मिले, बातें हुईं। 'आपकी आवाज तो अच्छी है, बुलन्द, लेकिन शरीर बहुत कमजोर है' : यों कहकर पण्डित मालवीयजीने बाबाको एक सूत्र कहा। 'आप एक छटाक मक्खन और एक सेर दूध रोज लिया करिये।' —म० वि० मं०

एक दिन महामना मालवीयजी भोजन कर रहे थे। उनकी पत्नी परोस रही थीं और सामने बैठकर पंखा भी झल रही थीं। उनकी पत्नी सामनेसे उठकर जबतक रसोईघरसे कुछ लेकर लौटतीं, तबतक मालवीयजीने उनकी आँख बचाकर दालमें पानी डाल लिया। यह कृत्य ओट में से मालवीयजी की पुत्रवधूने देख लिया (जिन्होंने भोजन बनाया था) जब वे स्वयं खाने लगीं तो मालूम हुआ कि दालमें नमक बहुत ज्यादा है। शायद दुबारा पड़ गया है। उनके मनमें बड़ा ही पश्चात्ताप हुआ और अपने श्वसुरकी करुणाकी जानकारी पाकर अत्यन्त ही मन द्रवित हो गया। मालवीयजी यदि अपनी पत्नीके सामने ही दालमें पानी डालते तो स्वभावके अनुसार ही उस दिन बेचारी पुत्रवधूको साससे खूब डाँट सुननी पड़ती।

एकबार एक लड़के को लेकर पण्डित मदनमोहनजी मालवीय कलकत्ता गये। उस छात्रको कलकत्ता-विश्वविद्यालयमें भरती करवानेके लिए उन्होंने दो दिनोंतक अथक परिश्रम किया, परन्तु लड़के को विद्यालयमें प्रवेश नहीं मिला। वहाँसे लौटनेके बाद ही मालवीयजीने बनारस हिन्दू-विश्वविद्यालयकी नींव रखी, जो आज भारतका सबसे बड़ा विश्वविद्यालय है।

●

भगवानके भजनमें प्रवृत्ति

जो वर्तमान कालमें तो पापकर्मोंसे विरत हैं ही, निरन्तर पुण्य-कर्मोंके अनुष्ठानसे जिनके पूर्वकृत पापोंका भी पर्यवसान हो गया है; जिन्होंने पुण्यमयी गङ्गाकी धारासे सारा पापपंक धो डाला है; अतएव जिनके मनपर शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंका प्रभाव नहीं पड़ता है तथा मोहसे भी जो सर्वथा मुक्त हो गये हैं; ऐसे दृढव्रती पुण्यात्माओंकी ही भगवान्‌के भजनमें प्रवृत्ति होती है। (गीता ७.२८)

महाकवि कालिदास और उनकी अद्वितीय प्रतिभा

आचार्य श्री सीताराम चतुर्वेदी

★

महाकवि कालिदासने अपने प्रादुर्भावके समयसे ही भारतीय विद्वानों, कवियों, मनीषियों और विचारकोंको प्रभावित किये रक्खा। यों तो संसारमें बहुत कवि हुए और आगे भी होंगे, किन्तु ऐसे उद्भट प्रतिभावाले कवि बहुत कम होते हैं जिनमें काव्य-प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों समान रूपसे सर्वहृदय-ग्राहिणी और प्रभावशालिनी होती हैं। महर्षि वाल्मीकिने आदि कविका संस्मरणीय पद प्राप्त कर और क्रौंचवधपर क्रौंचीकी करुणामयी चीत्कारसे व्याकुल होकर केवल वधिकको अमोघ शाप ही नहीं दे डाला, वरन् माता सरस्वती और नारदजीकी प्रेरणासे नूतन छन्दमें आदि-काव्य रामायणकी भी रचना कर डाली। किन्तु महाकवि कालिदासने इस प्रकारकी किसी दैवी प्रेरणासे अपने ग्रन्थोंकी रचना नहीं की।

अपने प्रसिद्ध महाकाव्य रघुवंशके प्रारम्भमें रघुवंश लिखनेकी प्रेरणाका कारण बताते हुए उन्होंने स्वयं कहा है :

रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन्।
तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः॥

अर्थात् रघुवंशियोंके इन गुणोंने ही मेरे कानमें पड़कर यह काव्य लिखनेकी ढिठाई करनेको मुझे उकसाया है।

इस उकसानेकी वृत्तिके कारण महाकवि कालिदासने अपने समस्त पूर्वज कवियोंकी महाकाव्य-परम्पराओंका उल्लंघन करके अपना यह नया मार्ग ग्रहण किया कि उन्होंने किसी नायकको अपने महाकाव्यका चरितनायक न बनाकर सम्पूर्ण रघुवंशको ही अपना चरितनायक बना डाला। क्योंकि जिन प्रतापी रघुवंशियोंका वर्णन इस प्रबन्ध-काव्यमें किया गया है, उनके चरित्र जन्मसे लेकर अन्ततक शुद्ध और पवित्र रहे। वे किसी कामको उठाकर उसे पूरा करके ही छोड़ते थे। उनका राज्य समुद्रके ओर-छोरतक फैला था। उनके रथ पृथ्वीसे सीधे स्वर्गतक आया-जाया करते थे, वे शास्त्रोंके नियमके अनुसार ही यज्ञ करते थे, माँगनेवालोंको मनचाहा दान देते थे। अपराधियोंको अपराधके अनुसार ही दण्ड

देते थे। अवसर देखकर ही काम करते थे। दान करनेके लिए ही धन बटोरते थे। सत्यकी रक्षा हो सकनेके लिए ही कम बोलते थे। अपना यश बढ़ानेके लिए ही अन्य देश जीतते थे। भोग-विलासके लिए नहीं, वरन् सन्तान उत्पन्न करनेके लिए ही विवाह करते थे। बालकपनमें पढ़ते थे, तरुणाईमें संसारके भोगोंका आनन्द लेते थे, बुढ़ापेमें मुनियों समान जंगलमें रहकर तपस्या करते थे और अन्तमें परमात्माका ध्यान करते हुए योगके द्वारा अपना शरीर छोड़ते थे।

संसारके अन्य कवियोंको तो अपने काव्यके लिए ऐसे गुणोंवाला एक भी नायक बड़ी कठिनाईसे मिलता है। होमरको एक युलिसिस (अलुसेस) मिला था और प्रायः अन्य देशोंके कवियोंको तो ऐसा भी एक नहीं मिला। किन्तु महाकवि कालिदासको तो ऐसे सर्वगुणसम्पन्न प्रतापी महापुरुषोंकी प्रशस्त परम्परा ही प्राप्त हो गयी। विश्वके महाकाव्य-संसारमें यह स्वयं नवीन घटना है।

उनका दूसरा काव्य 'मेघदूत' भी इसीलिए अद्भुत है कि उसमें न तो नायकका नाम आता है, न नायिकाका; किन्तु वह इतना सुन्दर है कि जीवनभर पढ़ते जानेपर भी उसका रस कम नहीं होता : **माघे मेघे गतं वयः।**

राष्ट्रकवि कालिदास

महाकवि कालिदास वास्तविक अर्थमें राष्ट्र-कवि थे। आजकल तो राष्ट्र कविका अर्थ है, वह कवि जो 'भारतकी जय'का नारा लगाये, राजनीतिक आन्दोलनोंका इतिहास लिखे, अवसर देखकर और व्यक्ति देखकर 'जैसी बहे बयार पीठ, तब तैसी दीजै'का मन्त्र पढ़े किन्तु वास्तविक राष्ट्र-कवि वह है जिसे अपने राष्ट्रकी परम्परा, रूढ़ि, संस्कृति, साहित्य, भावना, विश्वास, इतिहास, पशु-पक्षी, नदी-नद, वृक्ष-पर्वत, भूमि-प्रदेश, तीर्थ-नगर, वहाँके साधु, महा-पुरुष, वीर तथा सती नारी—सबका विस्तृत और सूक्ष्म ज्ञान हो और जिसने परम आत्मीयता और तन्मयताके साथ उन सबकी विश्रुत गाथाओंको भावमग्न होकर वर्णित किया हो। महाकवि कालिदासने केवल इतना ही नहीं, वरन् अपने देशके ऋतु, समाज, दर्शन, भावधारा, चिन्तन-पद्धति, सबका अत्यन्त सटीक, युक्तियुक्त और गम्भीर विवेचनापूर्ण सराहनायोग्य वर्णन किया है। इस दृष्टिसे यदि कोई अन्य कवि इस श्रेणीमें गिना जा सकता है, तो वह केवल आदि-कवि प्राचेतस वाल्मीकि ही हैं।

कालिदासके सम्बन्धमें जो यह उक्ति प्रसिद्ध होती चली आयी है :

पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासा।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव॥

(अर्थात् 'प्राचीन समयमें जब कवियोंकी गिनती होने लगी तब सबसे पहले सबसे छोटी उँगली-पर कालिदासका नाम गिना गया। उसके पश्चात् दूसरा कोई नाम ही नहीं मिला, इसलिए अनामिका उँगलीका नाम सार्थक हो गया। अर्थात् उसको कोई दूसरा नाम ही नहीं मिला।) इसका कारण यही था कि महाकवि कालिदासने केवल किसी एक विशेष नायकके ही वर्णनमें

अपनी सारी शक्ति नहीं लगा दी, वरन् कविके दोनों गुणोंका उन्होंने ने परिचय दिया : काव्य-प्रतिभा और व्युत्पत्ति। उनकी काव्य-प्रतिभाका चमत्कार तो अनेक प्रकारकी उपमाओं और अलंकारोंकी योजनामें, दृश्यको मूर्तिमान् बनाकर प्रस्तुत करनेमें, संवादको चमत्कृत रूपमें हृदयग्राही बनाकर रखनेमें और परिस्थितियोंकी उद्भावना करनेमें दृष्टिगोचर होता है। व्युत्पत्ति-ज्ञानका प्रयोग उन्होंने स्थान-स्थानपर ऐतिहासिक, भौगोलिक, वर्णनोंमें, वर्णनीय स्थलोंसे सम्बद्ध नदी-नद पर्वत, वृक्ष, पशु, गुल्म-लता, पक्षी, ऋतु, जनसमाज, स्थानीय जीवन, आदिके चित्रणमें किया है। महाकवि कालिदासकी रचनाओंको पढ़कर यह समझनेमें तनिक भी विलम्ब नहीं लगता कि यह रचयिता केवल कविमात्र नहीं है। वह शुद्ध भारतीय है, जिसे अपने देशकी महत्ता, उसके संस्कार, उसकी भूमि, सबका अभिमान है। उसने उन्हें प्रत्यक्ष देखा-सुना और समझा है, उसके साथ उसकी अखण्ड व्यक्तिगत आत्मीयता है, उसपर उसे गौरव है और वह उसके समस्त जीवन, काव्यशक्ति और भाव-संसार सबको अत्यन्त सात्त्विक रूपसे प्रभावित किये हुए है। ऐसी बातें हैं, उनके कारण कोई भी कवि महाकवि तो होता ही है, किन्तु 'राष्ट्रकवि' भी होता है।

कविका कार्य यही नहीं है कि वह केवल कोई बात कह भर दे, वरन् उसे कोई बात ऐसे चमत्कारी, अद्भुत, नवीन, आकर्षक और मनोहर ढंगसे कहनी चाहिए कि सुननेवाला या पढ़नेवाला तत्काल उसे पढ़ या सुनकर प्रभावित होकर 'वाह!' कह उठे। अर्थात् जो बात कविने कही है उस बातसे तो वह विभावित हो ही जाय, साथ ही उसके कहनेके ढंगपर भी मुग्ध हो। आजकलकी कवितामें अधिकांश बात कहना ही पर्याप्त समझा जाता है, किन्तु यह काव्यका लक्षण नहीं है। काव्यका कार्य यह है कि वह पाठक या श्रोताके ज्ञानका संवर्धन करें, उसकी वृत्तियों और भावोंका संस्कार तथा परिष्कार करे और उसे तत्काल काव्यानन्द प्रदान कर सब प्रकारकी चिन्ताओंसे मुक्त कर दे। जबतक यह गुण काव्यमें नहीं, तबतक और चाहे कुछ भी गुण हों, वह काव्य नहीं हो सकता।

महाकवि कालिदासमें ये सभी गुण पर्याप्त मात्रामें विद्यमान हैं। प्रबन्ध-काव्यके रचयिता होनेके नाते स्वभावतः उनकी रचनाओंमें वर्णनकी अधिकता है। वर्णनका यह गुण माना गया है कि वह वर्णनीय युगकी वृत्तिके अनुसार सटीकतासे पूर्ण हो अर्थात् उसमें जिन वस्तुओं, दृश्यों, मनुष्यों या भावोंका वर्णन हो, वे वर्ण्य युगकी संस्कार-भावनासे ओत-प्रोत हों। ऐसा न हो कि रामायण-युगका चित्रण करते हुए सीताजीसे चरखा और तकली कतवानेकी बातें की जायें अथवा रामके वनवास मिलनेपर उसके द्वारा सत्याग्रहकी योजना बनवायी जाय। युगके सटीक चित्रणका ज्ञान कविको तभी होता है, जब उसका इतिहासका ज्ञान अधिक सम्पन्न सटीक हो और जब उसे यह भी ज्ञात हो कि इस युगीन ज्ञानको किस प्रकार, किस अवसरपर, काव्यमें संयोजित किया जाय।

इन सब अनेक दृष्टियोंसे विचार करनेपर प्रतीत होता है कि महाकवि कालिदासने अत्यन्त श्रेष्ठ काव्यप्रतिभा और व्युत्पत्तिसे युक्त होकर अपने काव्योंकी रचना की।

●

एक सत्य-घटना

चायका मूल्य

श्रीकृष्णगोपाल माथुर

★

श्रीभगवान्‌का मन-ही-मन स्मरण करते हुए सेठ धनदासजी मोटरसे उतर स्नेहियोंका विदाई-सत्कार स्वीकार करते हुए रेलके तीसरी श्रेणीके डिब्बेमें जा बैठे उन यात्रियोंके पास, जो फटे-पुराने वस्त्र पहने हुए थे। प्रधान मुनीम दीनानाथजीने सामानकी व्यवस्था-हेतु ट्रेन थोड़ी देर रुकवा दी। पैसेमें बड़ी करामात है। एक अन्ध भिक्षुकने हाथ पसारे हुए कहा : 'भला हो सेठ बाबाका ! कुछ मिल जाय।' पर सेठजी सीटपर जा बैठे थे।

चौथे स्टेशनके प्लेटफार्मपर यह दृश्य सभी ने देखा कि एक बेचारा चायवाला लड़का, यात्रीसे चायके पैसे लेनेको गाड़ीकी धीमी गतिके साथ गिरता-पड़ता, हाँफता भागा जा रहा है, पर माईके लाल यात्रीने उसे पैसे नहीं दिये, बल्कि उसकी व्याकुलताका दृश्य खिड़कीसे देखता हुआ वह प्रसन्न हो रहा था। ट्रेनने तीव्र गति पकड़ी। लड़का अदृश्य हो गया। मालिकने उसके वेतनमेंसे २५ पैसे ले लिये। यात्रीके पास बैठे एक हरिभक्तको यह दृश्य देख मनमें बड़ा दुःख हुआ।

दिल्ली स्टेशनसे अपनी पेढ़ीपर जाते हुए सेठ-मुनीमने श्रीकृष्णप्रिया तरणिजा श्री यमुनाजीका चलती मोटरसे दर्शन कर **कृपापारावारां तपनतनयां तापशमनीम्** आदि श्लोक पढ़ते हुए उन्हें सभक्ति नमस्कार किया। 'अहा ! प्रयागराजमें जहाँ श्वेत गंगा-नीर एवं यमुनाके नील नीरका संगम हुआ है, वह अतिमनोहर दृश्य देखते ही बनता है !' सेठजीकी इस बातको मुनीमजीने मानो सुना ही नहीं। उनका चेहरा तो उस समय न जाने क्यों एकदम उदास हो रहा था। सेठ धनदासने धर्मके मदमें ५००) रुपये मासिकका खर्च और बढ़ा देनेकी स्वीकृति दी, तब मुनीमका मन अन्दरसे इतना जरूर चाह रहा था कि इस निधिको १०००) कर दें तो अच्छा !

अनमना मन, मुखकी विवर्णता, पश्चात्तापके चिह्न, चेहरेकी सिकुड़ी रेखाएँ—ये उदासीके भाव भला छिपते कबतक ? एक दिन धनदासजीने पूछ ही लिया : 'मुनीमजी ! पहले तो आपका मुखमंडल मानो पाटलपुष्पका किंजल्क बिखेरता रहता था। अब यह कैसा क्या हो गया ?"

पहले तो दीनानाथने कारण बतानेमें आनाकानी की, पर सेठजीके बहुत आग्रह करनेपर धीरे-धीरे, रुकते-रुकते शब्दोंमें डबडबायी आँखोंसे पश्चात्तापकी आह भरते हुए कहना आरम्भ किया : 'कोटा स्टेशनपर आपको स्पेशल चाय पिलाकर मैंने २५ पैसे बेईमानीसे बेचारे चायवाले लड़केको नहीं दिये, यही नहीं, उसकी भागदौड़, चिल्लाहटभरी माँगको ट्रेनकी खिड़कीसे देख-देख मन-ही-मन हँसता रहा। किन्तु जब ट्रेनसे उतरा तो मेरी जेबका ५००) रुपये के नोटोंका बटुआ गायब था। मैं फौरन जान गया कि यह उसी बेईमानीका फल मिला है।'

सेठजी मुस्कुराकर बोले : "मुनीमजी ! यात्रामें असावधान रहना कभी अच्छा नहीं होता। कहा है :

राह कहीं, राही कहीं, राहबर कहीं,
ऐसा भी सफर कामयाब होता है कहीं ?

अब आप इतने शोकमग्न क्यों हैं ? मुझे आपकी ईमानदारी, स्वामिभक्ति और वर्षोंकी निःस्वार्थ सेवाएँ भलीभाँति ज्ञात हैं। कहते हो 'वेतनसे थोड़ा-थोड़ा जमाकर ५००) रुपयोंकी पूर्ति कर दूँगा' तो क्या मुझे निरा धन-दास ही समझ रहे हो ? ऐसा कभी नहीं होने दूँगा। बनजारेके बैलके समान स्नेह-सम्बन्ध बड़ी कठिनाईसे जुड़ता है, उसे तोड़ना कभी अच्छा नहीं होता। आप ये ५००) रुपये बट्टाखाते मँडवाकर चैनकी साँस लीजिये और आनन्दपूर्वक पूर्ववत् काम कीजिये। देखते हो, भगवान् श्रीहरि अहैतुकी कृपा करके प्रत्येक सौदेमें कितना-कितना धन प्रदान कर रहे हैं ! तब—

पानी बाढ़ो नावमें, घरमें बाढ़ो दाम।
दोनों हाथ उलीचिये, यही सयानो काम ॥[1]

यह मैं क्यों न करूँ ?"

सेठजीकी इस उदारता, दरिया-दिली, गुण-ग्राहकता, वर्षोंके प्रेम-सम्बन्ध एवम् ममत्व-अपनत्वका विचारकर दीनानाथ गद्गद होकर प्रेमाश्रु बहाने लगे।

फिर भी उनके मनमें यह प्रश्न बराबर उठने लगा कि मुझसे यह पाप हुआ ही क्यों ? मैं आस्तिक हूँ, करुणा-वरुणालय श्रीहरिसे डरता हूँ। फिर ? अरे हाँ, आज मैंने शुद्धाशुद्धका विचार न कर होटलमें भोजन कर लिया था। सम्भव है, यह उसीका कुफल है। "जैसा खाओ अन्न वैसा, बने मन्न।" परम सेवक-भक्त सेठजीकी महती कृपासे ५००) रु० तो आये-गये हो गये, किन्तु अन्याय, अधर्म, बेईमानी, दूसरेको दुःख देकर हानि पहुँचाकर, उसका दिल दुखाकर बचाये २५ पैसोंका प्रायश्चित्त कैसे करूँ ? यह तो जीवनमें करना ही पड़ेगा।'

× × ×

---

१. जोड़े ज्यूंही जोड़ बिड़जारेके बैल ज्यूँ।
तनक जोड़ मत तोड़ जातो तातो "नागजी" ॥
(नागजीका मारवाड़ी बोलीका सोरठा)

वही स्टेशन, वही प्लेटफार्म, उसी लड़केकी भागदौड़, स्वयम्‌की हँसी ! सभी बातोंकी स्मृति दीनानाथके मनमें हलचल मचाने लगी। पर, सौभाग्यकी बात हुई कि लौटते समय वही लड़का स्टेशनपर चाय बेचते मिल गया। दीनानाथने उसे देखा तो मानो भगवान् मिल गये। पास बुलाकर चुपचाप २५) रु० देकर बिदा किया। मनमें इतना हर्ष माना कि मानो एक भारी पापका प्रायश्चित्त कर चुका हूँ। फिर प्रेरणा हुई। लड़के को पुकार कर बुलाया और सेठजीसे परिचय कराकर उसे १०१) रु० इनामके रूपमें दिलवाया।

× × × ×

घर आकर धनदास इस घटनाको भूले नहीं। उनके मनमें ग्लानि उत्पन्न हुई—बिना पैसे की चाय पीकर मानो मेरा नेम-धर्म बिगड़ गया है। इनाम देना मूल्य नहीं हो सकता। मैं भी मुनीमजीकी बेईमानीमें शामिल हूँ। तो भी दयानिधान भगवान् क्षमा करते हुए घरमें धनकी वर्षा करते हैं। क्यों न मैं २५ पैसेके बदले में २५ हजार रुपयोंकी लागतसे एक अनाथालय बनवा दूँ !

सेठकी यह धर्म-भावना कार्यरूपमें परिणत हो गयी। अनाथालय बन गया और उसका सारा प्रबन्ध-कार्य मुनीम दीनानाथके ही सिपुर्द हुआ। समय निर्झर-जलकी भाँति बहते-बहते कुछ वर्ष बीत गये। मुक्तका पैसा, बिना कीर्तिकी चाहका काम, सुप्रबन्ध, दीनोंको सभी भाँति आराम पहुँचानेकी लालसा—इन सभी विषयोंकी चर्चा सर्वसाधारणमें दूर तक फैल गयी।

× × × ×

'अहो ! कितना कष्टमय था जेल-जीवन ! वे दिन कितनी कठिनाईसे बीते ! सच ही कहा है :

अय्याम मुसीबतके तो काटे नहीं कटते।
दिन ऐशके घड़ियोंमें गुजर जाते हैं॥

पर पाप-कर्मका भोग तो भोगना ही पड़ता है। दिन गिनते-गिनते छुटकारेका समय आया। पर अब भी क्या हुआ ? बुढ़ापा है। किन्तु भरोसा एक उसी बिगड़ी बनानेवाले प्रभुका है।'

—विचारोंकी यह शृङ्खला बाँधे हुए अनाथालयमें भर्ती एक वृद्ध आकाशकी ओर हाथ पसारे क्षमा-याचना कर रहा था :

या रब ! तबाहकारोंका तू कारसाज है।
बन्देको नाज़ है कि तू बन्दानवाज़ है॥

मुनीम दीनानाथने जब यह ध्वनि सुनी तो वृद्धको पास बुलाकर पूछा: "भाई, तुम जाने-पहचानेसे मालूम होते हो ?"

कृशकाय अनाथ वृद्ध बोला : "हाँ, मैं वही लड़का हूँ, जिसे आपने २५ पैसेके बदले २५) रु० चायके दिये थे। किन्तु मैंने अज्ञानवश उनको बढ़ानेकी थोथी लालसासे एक स्थान

पर चोरीकर काफी धन हथिया लिया। पता लग गया। कैद भोगनी पड़ी। वहाँसे छूटकर उदरपूर्ति हेतु अब यहाँ आया हूँ।"

कहते-कहते वृद्ध रामदीन रुक गया। फिर रोते-रोते बोला। "धर्मात्मा लोग दीन-हीन याचकोंको धर्मार्थं पैसा देते तो हैं, पर वे उसका दुरुपयोग करके बुरी गतिको प्राप्त हो जाते हैं। ऐसे लोगोंके सुधारनेका कोई सामूहिक उपाय नहीं किया जाता, जिससे याचक सच्चे अर्थमें मानवोचित गुण प्राप्त करके देश, समाज एवम् अभावग्रस्त लोगोंकी तन-मनसे सेवा करते हुए उद्यम-परिश्रमसे उपार्जन कर अपना जीवन-यापन करें!"

मुनीमके मानस में वृद्धकी इन बातोंके सुननेसे प्रेम, सहानुभूति मानव-समानता एवं सेवा-श्रमकी महत्ताके उन्नत भावोंका उदय हुआ। लिपट गये वे रामदीनसे। सान्त्वना देते हुए बोले: "भाईजी, लालच तो बुरी बला होती है। यह बड़े-बड़े ज्ञानियोंका मन चलायमान कर देती है। किन्तु अब आप सन्ताप छोड़कर यहाँ आरामसे रहो।"

इस प्रसंगके पश्चात् दीनानाथने यह नियम बना दिया कि "अनाथालयके सभी अनाथ निरन्तर हरिभजन करते रहें, और 'सब तज, हरि भज'का पालन करें।" तदनुसार आज भी उस नियमका पालन होता है।

●

सर्वकर्मसमर्पणसे भगवान्‌की प्राप्ति

जो करते हो और जिसके लिये करते हो, जो खाते हो और जिस उद्देश्यसे खाते हो, जो हवनयज्ञ करते हो, और जिस फलके लिए करते हो, जो देते हो और जिस हेतुसे देते हो तथा जो तप करते हो और जिस इच्छासे करते हो, वह सब भगवान्‌को अर्पित कर दो। इसका परिणाम यह होगा कि तुम शुभाशुभ फलोंके जनक कर्म-बन्धनोंसे छुटकारा पा जाओगे। तुम्हारा संन्यासयोग सिद्ध हो जायगा और इस प्रकार सर्वथा मुक्त हो तुम भगवान्‌को प्राप्त कर लोगे।

(गीता, ९. २७)

मानसका महत्त्व : आजके समाजके सन्दर्भमें

डा० गोवर्धननाथ शुक्ल

★

विश्व-कविके स्वर्ण-सिंहासनपर अधिष्ठित महाकवियोंकी कालजयी रचनाएँ देश-कालातीत होकर भी युग-युगकी आवश्यकताओं, समस्याओंका समाधान करती रहती हैं। अतीत-अनागतके सम्पुटमें विद्यमान वर्तमानके प्रश्नोंका प्रत्युत्तर देते रहनेकी क्षमताके कारण ही वे रचनाएँ महाकाव्योंकी कोटिमें आती हैं। यदि कोई रचना त्रैकालिक प्रश्नोंका समाधान करनेकी क्षमता नहीं रखतीं और उससे यदि एक भी कालका बंधन होता है तो वह महाकाव्यकी कोटिमें नहीं रखी जा सकती। भारतीय महाकाव्योंके शास्त्रीय रूप-निर्धारणमें आचार्योंकी दृष्टि इस तथ्यपर सदैव टिकी रही है। भारतीय मनीषाने महाकाव्य उसे ही स्वीकारा है, जिसमें लोकजीवनके चरम सत्योंकी अबोध आराधना रही है। मध्ययुगीन साहित्य और विशेषकर भक्ति-तत्त्वमें समाहित होनेवाले महाकाव्योंको वर्तमान युगीन सन्दर्भोंमें देखनेकी चेष्टा की जा रही है और यदि वे आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तनधाराकी तुलापर खरे नहीं उतरते तो उन्हें युगातीत या 'आउट आफ डेट' कहकर उपेक्षित कर दिया जाता है। वस्तुतः यह आजके अध्येताका दृष्टि-दोष है, न कि उन महाकाव्योंका अपराध। आजका पाठक सतत अनुशीलनकर्ता किंवा नित्य-स्वाध्यायी नहीं रहा। अन्यथा उसे अपने युगके प्रश्नोंका समाधान इन कालजयी रचनाओंमें निश्चय ही मिल जाता।

तुलसीका रामचरितमानस दिक्कालाद्यनवच्छिन्न रचना है। किन्तु मानसकारने अपने प्रस्थान-चतुष्टय १. नाना पुराण २. निगम ३. आगम और ४. क्वचिदन्यतोऽपि में पुराणोंकी चर्चा सबसे प्रथम और वेद तथा शास्त्रोंकी चर्चा बादमें करनेके कारण तुलसीको कतिपय आधुनिक विचारकों द्वारा पुराणपन्थी कह दिया गया। पुराणोंको प्राथमिकता देना ही सम्भवतः महाकविका माना हुआ अपराध है और इसी कारण समाजवादी विचारधारा, मार्क्सवादी मनीषा और मानवतावादी चिन्तनधाराकी तथाकथित उदार कक्षासे वे निष्कासित कर दिये गये। किन्तु यह अपराध न तो तुलसीका है और न रामचरित मानसका जैसा कि संकेत दिया जा चुका है, यह अपराध आजके उस अधकचरे स्वाध्यायीका है जिसका स्वभाव गौरवमय अतीतसे पलायन करने और अभारतीय जीवनधारामें अवगाहन करनेका आदी बन गया है।

वस्तुतः रामचरित-मानस धर्म-विशेष, सम्प्रदाय-विशेष, जाति-विशेषका ग्रन्थ नहीं, वह विश्व-साहित्यका चरम मानवतावादी ग्रन्थ है जिसमें विश्व-धर्म समाहित है। आजके उभरते हुए प्रश्नोंकी छायामें यदि तुलसी-काव्यका अनुशीलन करें तो उसे द्विधा वर्गीकृत किया जा सकता है। १. स्वान्तःसुखाय २. लोकहिताय। यद्यपि उनका स्वान्तःसुखाय भी

दूरगामी 'लोकहिताय' ही है, अतः तुलसीका समूचा साहित्य एक दृष्टिसे जग-मंगलकी आराधना करनेके लिए ही है। उनकी 'विनय-पत्रिका'तक, जो उनके आराध्यके दरबारमें अत्यन्त निजी चिट्ठीके रूपमें पेश की गयी है, आज सर्वतोभावेन लोक-हिताय ही सिद्ध हो रही है। तब रामचरितमानस, जिसके उद्देश्यकी घोषणा स्पष्ट शब्दोंमें स्वान्तःसुखाय कर दी गयी, आजके लोक-जीवनके सन्दर्भमें उसका उद्देश्य कितना मूल्यवान् होगा यह विचारणीय है।

रघुनाथ-गाथाका भाषामें निबन्धन करनेवाले तुलसीने रघुनाथ-गाथाका उद्देश्य कोई काल्पनिक मोक्ष अथवा स्वर्ग-सुख अथवा लोकातीत विहार नहीं माना है। उनकी रघुनाथ-गाथाके निबन्धनका उद्देश्य केवल लोक-मंगलका विधान है। इस लोक-मंगलके विधानके लिए किसी ऐतिहासिक महापुरुषके आदर्श आचरण और लोक-संग्रहणीय व्यवहारका बिम्बग्रहण लोकबुद्धिको हो सके इसी मान्यतासे तुलसीने अपने अवतारी रामको महामानव बनाकर उनके आदर्श गुणोंको परखा और उनमें निगूढ़ माधुर्यका रसास्वादन किया। उसी रसमयी आत्मानुभूतिके उपरान्त उन्होंने घोषणा की थी :

जगमंगल गुन ग्राम रामके। दान मुकुति धन धरम धामके॥

रामके गुण-ग्राम धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप पुरुषार्थ-चतुष्टयके देनेवाले तो हैं ही, किन्तु प्रस्तुत अर्द्धालीमें आजकी अर्थ-प्रधान मार्क्सवादी, समाजवादी और इनसे भी ऊपर मानवतावादी विचारधाराका भी संकेत मिल जाता है। आज विश्वके विविध राष्ट्रव्यापी विविध आन्दोलनोंके मूलमें समाजकी अर्थ-प्रधान चेतना ही प्रखर हो उठी है। उसका शमन तुलसीदास राम-गुण-गानके माध्यमसे बतलाते हैं। विचारना है कि उनका मानसका राम-गुण-गान इस उद्देश्यमें कहाँतक खरा उतरता है ?

मानसके चरित-नायक वस्तुतः गुणोंके आगार हैं। रघुवंशके कुलगुरु महात्मा वशिष्ठने रामके विषयमें कहा था :

रीति-नीति परमारथ स्वारथ, कोउ न राम-सम जान जथारथ।

यह रामका वह चारित्रिक प्रमाणपत्र (करेक्टर सर्टीफिकेट) है, जो जगज्जीवनके लिए और लोकनायकत्वके लिए प्राथमिकताके साथ अनिवार्य है। तुलसीके राममें धर्म-नीति, लोक-नीति और राजनीति तीनों ही पुंजीभूत हो गयी हैं। वे वेद-रीति और लोक-रीतिके ज्ञाता है। परमार्थ और स्वार्थकी सीमाओंके जागरूक प्रहरी हैं। उन्हींके 'गुण-ग्राम'का चिन्तन और मन्थन तुलसीका मानस है। एक ओर उनके राम अवतारी, साकेत-बिहारी और क्षीरशायी अवश्य हैं, किन्तु वे आते हैं इस भूतलपर नररूपमें ही। 'व्यापक ब्रह्म अजित भुवनेश्वर'को नररूप अथवा नराकारमें देखनेकी लालसा तुलसीको इसीलिए रही है कि यह संसार उस अखिल ब्रह्माण्डनायक अथवा भुवनेश्वरकी नर-रूपमें कल्पना कर सके और उसके शारीरिक और चारित्रिक सौन्दर्यमें तथा स्वभावगत शीलमें निमज्जित हो सके तथा उसके द्वारा आचरित लोक-व्यवहारको आत्मसात् कर सके।

भगवान्‌को मनुष्यका बाना पहनाकर उसे मानव-चरित्रका आचरण करनेके लिए बाध्य करनेवाले तुलसीका लक्ष्य यही था कि जगत् भी वैसा ही शुभाचरण कर सके। अन्यथा

'लेट देअर बी लाइट एण्ड देअर वाज़ लाइट'की भाँति किसी अनदेखे, अचिन्तित, अतर्कित ईश्वरकी महीयसी इच्छामात्रसे भी सब कुछ संचालित करा देनेकी क्षमता तुलसीमें थी और वे ऐसा कर भी देते। किन्तु तब उनका मानस देवकीनन्दन खत्रीके तिलस्मी उपन्यासों अथवा गोपालराम गहमरीके जासूसी कारनामोंसे अधिक न रह जाता। किन्तु नहीं, अपने रामको किसी अतीन्द्रिय लोकसे इस भूतलपर उतारकर उसको हमारे जैसा ही सुख-दुःखोंकी अनन्त अनुभूतियोंका अधिष्ठान बनाकर तुलसीने अपने मानसको लोकानुभूतिके गम्भीर सलिलसे भर देनेकी चेष्टा की। यही कारण है कि उनका मानस आज लोकमानसका कौस्तुभ-मणि बन गया है। उनके निराकार योगियोंके मानसमें रमण करनेवाले राम नराकार हैं पूर्ण मानव हैं। क्षमा, धैर्य और कष्ट-सहिष्णुताओंकी चरम सीमाओंका स्पर्श करनेके कारण वे पुरुषोत्तम हैं। उनका जीवन-सिद्धान्त केवल लोकाराधन है, अन्य कुछ नहीं। लोकाराधनके लिए वे अपनी प्राणप्रिया सीताका भी परित्याग कर सकते हैं और स्वयंको लोक-परीक्षाकी अग्निमें भी डाल सकते हैं। वे जन-नेता है, इसीलिए तुलसीने अपने मानसके उपक्रममें रावणकी उत्पत्तिकी कथा इसीलिए विस्तारसे दी कि राम-जन्मका उद्देश्य केवल भक्तिका प्रचार नहीं, अथवा पुराण-पन्थका विस्तार नहीं, अपि तु—

बाढ़े खल बहु चोर जुवारा, जे लम्पट परधन परदारा।

के अन्तर्गत समाहित राष्ट्रके चोरों, जुआरियों तथा पराये धन और परायी ललनाओंका हरण करनेवालोंके लिए ही तुलसीके रामका जन्म है। साम्राज्य-विस्तारक और पर-स्वतन्त्रताके अपहर्ता मण्डलेश्वर रावण जैसे व्यक्तिकी आसुरी वृत्तिके विनाशके लिए तुलसीके मानसमें लोकनायक रामका अवतरण है। मानसके पूर्वरंगमें तुलसीने रावणका परिचय दिया है :

भुजबल बिस्व बस्य करि राखे स कोउ न स्वतन्त्र।
मण्डलीक मनि रावन राज करहि निज मन्त्र॥

जनतन्त्रके घोर शत्रु इस रावणका विनाशकर प्रजातन्त्रवादी रामराज्यकी सुखद कल्पनाके लिए ही तुलसीने मानसकी रचना की है। साम्राज्यवादी, अत्याचारी और अनीतिपर चलनेवाला भले हो कोई ब्राह्मण हो क्यों न हो, तुलसी उसका वधोपाय करा देते हैं। मानसके नायक सम्राट्-पुत्र रामकी वन-यात्रा लोकाराधनकी विजय-यात्रा है। अपने राज्यत्यागके इस दुर्गम दृष्टान्तकी कमनीय कल्पना उस कालके मुगलिया शासन कालमें तुलसी-जैसा व्यक्ति ही कर सकता था। उस कालके राज्य-लोलुप भाइयोंके गृह-कलहकी मलिन छायामें वही ऐसी उदात्त भावना प्रस्तुत कर सकता था।

आजके राजनीतिक दलोंके सरमायेदार देशके नेता एवं मुख्यमन्त्री क्या रामचरित-मानसके इस प्रसंगपर ध्यान देंगे। भारतीय महाकाव्योंके मूलमें उच्च आदर्शोंकी प्रतिष्ठा मुख्यतः जनतान्त्रिक अर्थ-प्रणालीपर ही चली है। महाभारतके युद्धके मूलमें राजतन्त्रकी विनाशेच्छा और अर्थका न्यायोचित वितरण ही है। रामायणके मूलमें भी साम्राज्यवादी भावना और विषम अर्थ-व्यवस्थाका विनाश ही है। इसीलिए चित्रकूटके सात्त्विक वातावरणमें रामने भरतको जनतन्त्रके पालन और सम्यक् अर्थ-वितरणका संकेत देते हुए कहा था :

मुखिया मुखसों चाहिए, खान पान कहुं एक।
पालइ पोसइ सकल अँग, तुलसी सहित विवेक ॥

तुलसीका 'मुखिया' शब्द मार्मिक है। वे भूपति अथवा नरपति शब्दका प्रयोग नहीं करते। उनका 'मुखिया' शब्द गणनायकका संकेत देता है। आजके लोकनायक अथवा राष्ट्राध्यक्ष क्या ऐसे 'मुखिया' अथवा गणनायक हैं, जो वनवासी रामकी भाँति स्वयं मुनिव्रत रहें, अथवा नन्दिग्रामवासी भरतकी भाँति जौ मात्र खाकर भूमिपर शयन करें और समाजके सभी अङ्गों और वर्गोंका विवेकसहित अर्थात् उनकी योग्यता और क्षमताको पहचानकर उनका पालन पोषण करें और स्वयं मुखकी भाँति सदैव रिक्त रहें? आजकी समाजवादी विचारधारा और मानवतावादी समाज मानवताके पोषणमें क्या इतनी सीमातक जा सका है? क्या मार्क्सवादी अर्थनीति नन्दिग्रामके यव-भोजी भरतकी अकिंचन, अहिंसक अर्थनीतिका अनुसरण कर सकी है? आजका नारा 'गरीबी हटाओ' है, किन्तु तुलसीके मानसका नारा है 'अमीरी न चाहो!' दोनोंमें मौलिक अन्तर है। 'गरीबी हटाओ'में वर्गभेद फिर भी बना रहेगा। 'अमीरी न चाहो'में सच्चे मानवतावादी समाजवादकी स्थापना होगी। वैभवशाली समाजमें भी **चंचरीक जिमि चम्पक-बागा** अनुसार राष्ट्रनायक निर्लिप्त रह सकेगा।

भारतकी राजनीति व्यक्तिनिरपेक्ष त्यागप्रधान रही है। वीर-पूजाके आवेशमें उसने जनहित-भावनाको कभी तिलाञ्जलि नहीं दी। रामचरितमानसका राष्ट्रनायक 'बिनु पनहीं' वन-वन विचरता है और अयोध्याके गणनायक निर्जीव पादुकाको सिंहासन पर बिठाते हैं। लोक-करुणा और त्यागके अभावमें आजका सजीव राष्ट्राध्यक्ष कुर्सीसे ढकेल दिया जाता है। अतः लोकनायकके इस पतनसे परित्राण तुलसीके 'मानस' में ही है।

जनतन्त्रकी भावना यद्यपि दशरथमें भी विद्यमान थी, **जो पाँचहिं मत लागे नीका** में उनकी जनतान्त्रिक भावनाका भी संकेत मिल जाता है; किन्तु दशरथकी जनतान्त्रिक भावनाका सुन्दर पल्लवन आगे चलकर रामके चित्रकूट-उपदेशमें और अयोध्याके सिंहासनपर बैठनेपर रामने प्रजाको जो आदेश दिया था, उसमें है; वहाँ भारतीय समाजवादके स्पष्ट दर्शन हो जाते हैं!

इसी प्रकार तुलसीने वर्णाश्रम-व्यवस्थाको भी कर्तव्य भावना और धर्मकी व्यापक भावनासे च्युति न हो, इसीलिए स्वीकार किया है। उनके वर्णाश्रमकी स्वीकृति पूजने और पुजवानेकी भावनासे नहीं। राजगुरु तपस्वी वशिष्ठ पुनीत आचरण और तपस्वी जीवनके कारण राजमान्य और वन्दनीय होते हुए भी गुह और निषाद-जैसी अनुसूचित जातियोंसे दौड़कर मिलते हैं, जैसे पृथ्वीपर फैले हुए घीको समेट लिया जाता है वैसे ही पैरोंमें पड़े निषादको भी बाहुपाशमें समेट लेते हैं (**जनु महि लुठत सनेह समेटा**)। तुलसीपर ब्राह्मणवाद या छूआछूतका लाञ्छन लगानेवाले पाठक इस प्रसङ्गको जरा दृष्टि खोलकर पढ़ेंगे। आजसे चार सौ वर्ष पूर्व जनतान्त्रिक समाजकी छूआछूत-समस्याका अप्रत्यक्ष समाधान देकर तुलसीने राजनीतिके अन्तर्हित रहस्योंका संकेत दिया है और दलित-वर्गकी विरोध-भावनाका शमनोपचार दे दिया है।

आजके राष्ट्रकी अनेक गोपनीय बातें प्रातःकाल ही 'आकाशवाणी'पर सुना दी जाती हैं, किन्तु तुलसीने अपने मानसमें सफल राजतन्त्रका प्रमुख सूत्र दिया।

राजधरम सरबसु इतनोई। जिमि मन माँहि मनोरथ गोई॥

सफल राजनीतिका रहस्य ही गोपनीयता है। किन्तु इस सिद्धान्तका आजके युगमें जितना निर्मम विघटन हुआ है, उतना सम्भवतः पहले कभी नहीं हुआ था। आज गोपनीयताकी शपथका ढिंढोरा पीटा जाता है, किन्तु वर्तमान राजनीतिमें गोपनीयताका नितान्त अभाव है। इधर गोपनीयताकी शपथ ली गयी और उधर आकाशवाणीपर गोपनीयता सुना दी गयी। आजकी आकाशवाणी सर्वश्राव्य है, तुलसीकी आकाशवाणी-नियत श्राव्य थी। रावण-विनाशकी सूचना भूमिपर स्थित देवताओंको तो मिलती है, पर रावण और अन्य असुरोंको नहीं।

मानवतावादी तुलसीने अपने रामचरित-मानसमें समाजके दलित-वर्गकी भरपूर सुध ली है। सात्त्विकता; शील और सौन्दर्यका दिव्य प्रभाव वे अनिवार्य मानते हैं। पिछड़े और अर्ध-शिक्षित कहे जानेवाले आदिवासियोंपर श्रीराम तथा चित्रकूटकी उस दिव्य-सभाका कैसा सात्त्विक प्रभाव पड़ा था कि वे अपने अतिथियोंका स्वागत विशाल उदार-भावनाके साथ करते हैं। वे अपने प्रिय पाहुनोंका स्वागत इन शब्दोंमें करते हैं :

तुम प्रिय पाहुन बन पगु धारे। सेवा जोग न भाग हमारे।

फलोंका मूल्य चुकानेपर वे मूल्य नहीं लेते :

देहिं लोग बहु मोल न लेहीं। फेरत राम दुहाई देहीं॥

उनका तो निष्कपट कथन है :

यह हमार अति बड़ि सेवकाई। लेहिं न बासन-बसन चोराई॥

आजकी डाकू-समस्या यदि हृदय-परिवर्तनके आधारपर सम्भव है, तो इसमें आश्चर्य किस बातका? प्रजावत्सल रामके आचरणका दिव्य-प्रभाव ही कुछ वैसा है। तुलसी अपने रामके गुणोंपर रीझे ही इसलिए हैं कि अहिल्या, शबरी, गीध, केवट, बिभीषण जैसे समाजके तिरस्कृत, उपेक्षित प्राणियोंको रामने उठाया। सरभंग, शबरी, केवट, जाम्बवान्, हनुमान्-जैसे अर्धशिक्षितों, उपेक्षितोंको उठाया। रामका यह 'पतित-पावन' रूप ही तुलसीको मान्य है। तुलसीके राम अपने गुरुदेव वसिष्ठके लिए जितना आदर हृदयमें लिये हैं, उतना ही शबरीके लिए भी। प्रसिद्ध कथा है कि वनवाससे लौटनेपर श्रीरामका स्वागत-समारोह चार स्थानोंपर मुख्य रूपसे हुआ। उन चारों स्थानोंमेंसे उन्हें कहीं भी शबरीके फलोंसे अधिक माधुर्यका अनुभव नहीं हुआ। तुलसी कहते हैं।

घर गुरुगृह प्रिय सदन सासुरे, भई जब-जब पहुनाई।
तब-तब कह सबरीके फलनिकी रुचि माधुरी न पाई॥

शीलसिंधु, परदुःखकातर रामकी स्पष्टवादिता भी तुलसीने व्यक्त की है। साथ ही छूआछूत-समर्थक खान-पानके विवेको ब्राह्मणवादी कहे जानेवाले तुलसीके मानसमें हरिजन-उद्धार और सर्वोदय-भावनाके दर्शन भी सुलभ हैं। इसी प्रकार नारीकी अननुशासित आर्थिक स्वतन्त्रताके दुष्परिणामको लंकाके विनाशके रूपमें प्रस्तुत कर तुलसीने शूर्पणखा-प्रसंगकी योजना की है।

तुलसीके राम सार्वभौम सम्राट् होकर भी न साम्राज्यवादी हैं, न साम्राज्य-विस्तारक। अपने भाई दाराशिकोहसे भिड़नेवाला साम्राज्यलोलुप औरंगजेब साम्राज्य-विस्तारकी चिन्तामें २५ वर्षतक दक्षिणमें पड़ा रहा। किन्तु तुलसीके मानसके चरितनायक निशिचरवंश विनाशक राम शस्त्र-बलसे असुरोंका संहार करके विजित लंकाका राज्य विभीषणको लौटाकर ११ मासमें ही दक्षिणसे लौट आये। आर्य-संस्कृतिकी उदार आदर्श-भावनाकी यह पुनरावृत्ति आज बंगला-देशकी विजयमें पुनः सामने आयी है। हमने राष्ट्रोंको मित्र बनाया है, मित्रोंकी रक्षा और सहायताकी है। मानसके उदार सन्देशकी युग-युगसे चली आती परम्पराको पुनरुज्जीवित किया है।

'मानसके' अन्तिम प्रसंग रामराज्याभिषेकमें भारतके प्रथम राष्ट्रपतिको लोकतन्त्रीय पद्धतिपर गठित प्रथम संसद्का स्वरूप भी अवलोकनीय है। उसकी चरम शालीनता और आजके अनुशासनहीन सदन-त्यागके वैषम्यपर सहज दृष्टि रखी जाय तो रामकी प्रजावत्सलताकी गम्भीरताका कुछ आभास हो सकेगा। समस्त देशवासियों, नागरिकों और गणतन्त्रके मुखियाओंको आमन्त्रण देकर रामका प्रथम अभिभाषण है :

जो अनीति कछु भाखौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥

लोकाधिपतिका अपनी जनताको यह अभयदान और आश्वासन, जनतान्त्रिक परम्पराकी शाश्वत विजय है; जिसकी प्रतिष्ठा तुलसीने आजसे ४०० वर्ष पूर्व कर दी थी। इतना ही नहीं, आत्मानुशासनका संकेत भी उनके राममें मिलता है :

नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जो तुम्हहि सोहाई॥

तुलसीके राम अनीति नहीं करते। उनका आचरण नीतियुक्त है। वे प्रभुताका मद नहीं रखते; इसीलिए प्रजाको सलाह देते हैं कि यदि मेरा कहा हुआ अच्छा लगे तो करो। जन-कल्याण-भावनाका यह उदात्त उदाहरण तुलसीके मानसको छोड़ अन्यत्र दुर्लभ है। क्या आजका शासकवर्ग अनीतिसे सर्वथा दूर रहनेकी गारण्टी दे सकेगा? क्या वह प्रभुताके मदका विसर्जन कर सकेगा? क्या वह जनताको उसके आत्मविश्वासपर छोड़ सकेगा? यह तभी सम्भव है, जब कि आजके राष्ट्रनायक, जननायक एवं गणनायकके स्वयंके आचरण हिमवत् स्वच्छ और अडिग हों। रामराज्यकी ऐसी सुखद कल्पना तुलसीके मानसमें ही सम्भव थी। तुलसी सिद्धान्तोंके अम्बारकी अपेक्षा आचरणकी कणिकाके ही हामी थे। अतः यदि उन्हें अपने लोक-मंगली और लोक-संग्रही काव्यसृष्टिमें आचरणीय जीवन-दर्शनके दर्शन हुए तो वे 'राम-गुन-ग्राममें ही अन्तर्दर्शन, शास्त्र और आचार-संहिताओंके निर्माणकी अपेक्षा आचारवान् व्यक्तियोंके 'गुणग्राम' का कथन करना अधिक समीचीन समझते हैं, जिससे मानवकी बिम्बग्राहिका बुद्धिको अधिक सजग सम्बल मिल सके।

●

भरने दो

श्री गोपालजी मिश्र

★

अभी कुछ वर्षों पहले जब वह इस महालमें कहींसे आ टपका था, लोगोंने उसे पहले-पहल देखा और असीम करुणा-व्यथासे आलोड़ित सहानुभूतिसे सभीके नेत्र सजल हो उठे थे !

किन्तु आज उन्हीं नेत्रोंमें विस्मय, आशंका, घृणा और जाने क्या-क्या भाव कौंध रहे रहे हैं। लेकिन कोई कुछ नहीं कहता। हिम्मत ही नहीं। फिर कहा भी जाय तो फायदा क्या ?

तब वह 'वही पर' था, अब वह वहीं भर नहीं। अब उसके पास अपनी निजी अट्टालिका है, कारें हैं, नौकर-चाकर हैं, बैंक-बैलेंस है। फिल्मी तारिका सी सुन्दर एक नवयुवती घरमें डोलती रहती है ! दर्जा शायद बीबीका है, मगर वह शायद बीबी नहीं। चाँदीकी डोरसे बाँध रखी गयी कोई रखैल है।

अब ये सेठ सहजानन्द हैं। पहले मटरू थे। फिर पोजीशन बढ़नेके साथ-साथ अभिजात नामकरण अपनेसे ही कर लिया।

एक दिन पड़ोसी सुखवीरपर वह खुलकर हँसा था। सुखवीरने आत्म-सन्तोष व्यक्त करनेकी कोशिश की थी कि उसे दिन-रात खटनेके बाद जो थोड़ा-बहुत मिल जाता है, उसीमें सन्तोष कर लेता है। सुनकर इसे हँसीका दौरा पड़ गया था।

'परिश्रम तो सिर्फ गधोंके करनेकी चीज है...'

कितना पैना व्यंग्य था उसका ! लेकिन इस व्यंगपर जमानेका रंग था। उसकी लम्बे-लम्बे डगोंमें कुलाचें भरती हुई समृद्धि, बैंकोंमें जमा हुई चली जाती नोटोंकी गड्डियाँ—वह व्यंग्य नहीं, यथार्थ था, नग्न-सत्य !

पहले, जब वह गरीब था, पेट-पीठ एक थे। शरीर हाड़ोंकी ठठरी थी। कपड़े तार-तार थे। वह तनहा था और उसके पास कुछ न था। जब वह पहले-पहल अपनी बेबसीकी आह लिये इस महालमें आया, तो उसके मस्तिष्कमें केवल एक प्रश्न था, सिर्फ एक सवाल !

जवाब उसे ज्ञात था भली प्रकार। अपने अबतकके जीवनमें उसे जो दुःख उठाना पड़ा था, हार सहनी पड़ी थी, अपमानित होना पड़ा था, वह उसे सहस्त्रों विष-दंशोंकी भाँति चुभ रहा था। आखिर क्यों ईमानदारीके साथ परिश्रम करनेपर भी उसे लोगोंने धक्के दे-देकर निकाला था ? आखिर क्यों ?

और इस क्यों '?' खोजमें उसने अपना तन-मन जलाकर खाक कर डाला। समय बीतनेके साथ उसने अनुभव किया, जैसे उसीका शोधन हो गया हो। मगर पारा शोधित होकर अमृत नहीं बना, द्राक्षा सड़कर शराब बन गयी।

मटरू, सहजानन्द इसीलिए बना कि अब वह आजसे आनन्द-मार्गपर चलेगा, जो सहज ही प्राप्त हो। फिर तो जब वह एकबार चल पड़ा तो उसने छूटते ही इतनी तेज गति पकड़ ली कि केवल कुछ ही वर्षोंमें दौलतकी दुनियाका आसमान छूना शुरू कर दिया।

उस दिन जब उसने डाक्टरसे शिकायत की थी कि उसे बायें सीनेके नीचे कभी-कभी सुई चुभोनेका दर्द महसूस होता है, तो डाक्टरने पूछा था : 'हाँ, और कहाँ-कहां दर्द है ?'

'बस, और कहीं नहीं।'

लेकिन उसी रात सुखबीर उससे मिलने आया—शायद नौकरोंसे बीमारीकी बात फैल गयी थी।

विचित्र संयोग ! सुखबीरने भी वही सवाल पूछा जो डाक्टरने पूछा था। उत्तरमें डाक्टरको दिया गया जवाब एकबार फिर दोहरा दिया गया।

डाक्टरने तो आगे बात नहीं बढ़ायी, पर सुखबीरने बढ़ा दी। पूछा : 'कहीं दिमागमें तो सुई चुभने-सा दर्द नहीं उठ रहा है ?'

'नहीं तो···म···मगर, क्या मतलब ?'

'कोई खास नहीं।···यही कि कभी-कभी इन्सान अपनी असलियतको झुठलानेकी जबर्दस्तीपर आमादा हो जाता है तो दिमागमें इञ्जेक्शनकी सुई-सी चुभने लगती है···'

'क्या··क्या ?'

'कोई खास चौंकनेकी बात नहीं, सेठ ! अपने किये हुए काले कारनामे; अपनेसे ही कैसे छिपेंगे ?'

इसपर उसने चीखकर पूछा था : । क्या वह होशमें तो है ? उसे हिम्मत ही कैसे पड़ी उसके पासतक आनेकी ? उसे मालूम होना चाहिए कि वह किससे बातें कर रहा है। उसकी बात बिलकुल बे बुनियाद है।·· और···और···'

सुखबीरने हँसकर कहा था : 'मेरी बातोंकी बुनियाद उतनी ही गहरी है जितना कि ईश्वर, और सब ईश्वर देखता है ! स ऽ ऽ ऽ ब्ब !!···'

विद्रूप-सी हँसी हँसकर उसने पूछा : 'क्या तुम ईश्वरके एजेण्ट हो ? क्या तुमने काले-कारनामोंकी जाँचका ठेका ले रखा है ?'

उसने बताया था : 'वह भी उस दौरसे गुजर चुका है, जिससे आज मटरू उर्फ सहजानन्द गुजरनेकी कोशिश कर रहा है। यही कारण है कि उसे सब पता है। वह भी जो वह रातके अन्धेरेमें, तालोंके अन्दर; पर्देके पीछे कर रहा होता है।

'फिर तो सुखबीर ! शायद तुम कहीं कुछ चूक गये, वरना आज अरबपति होते !'

'चूका नहीं; घड़ा भर गया था। भर रहा था तो मैं खुश था। सोचता था, इसी तरह हमेशा भरता ही चला जायगा। पर एक दिन, जब एकदम भर गया तो फूट गया···'

'हुँः···बकवास है।'

'अच्छा !···तो भरने दो।'

बगुला भगतोंको पहचानें

चीखें और चीखें

श्री सत्येन्द्र सिंह

☆

रघुपति राघव, राजा राम।
पतित पावन, सीताराम॥

···ये शब्द मेरे कानोंमें तब पड़े, जब मैं अपने एक मित्रके साथ मथुरा नगरीके मन्दिरोंके दर्शन करनेके लिए घरसे चला था। ये शब्द एक याचनाभरो, सुरीली आवाजमें गाये जा रहे थे एक महिला द्वारा, जो एक कुष्ठरोगीको छोटी-सी गाड़ीमें बिठाकर खींच रही थी और अपने तथा उसके पेटके लिए भीख माँग रही थी।

जब ये शब्द मेरे कानोंमें पड़े, तो मैंने सोचा—ऐसे मधुर कण्ठसे बोलनेवाला कौन-सा भक्त आ रहा है? मेरे मनमें उसे देखनेकी एक लालसा जाग्रत् हुई। मैं उसी ओर चलनेको उन्मुख हुआ, तो मेरे मित्रने मुझे रोककर पूछा: 'किधर चलनेका विचार है?' मैंने उधर इशारा कर दिया, जिधरसे वह महिला भिखारिन हमारी ओर ही आ रही थी। मैं तथा मेरा मित्र वहीं खड़े होकर उसकी प्रतीक्षा करने लगे। जब वह अपनी शक्ति लगाकर और आगेको कुछ झुककर बढ़कर हमारे पास पहुँची ही थी कि उसकी दृष्टि एक 'राधेश्याम'से लिखा दुपट्टा पहने और मस्तकपर चन्दन लगाये एक सज्जनपर पड़ी। वह खड़ी होकर, इस आशासे कि वह कुछ दे सकेगा, उससे माँगने लगी। पर उस मनुष्यके शब्द 'चल-चल यहाँसे, चली आयी माँगने! क्या तुझसे कुछ काम नहीं हो सकता?' कितने घिनौने थे, इसका अनुमान लगाना कोई कठिन नहीं है। मैं थोड़ी देरतक एकटक उस अभद्र पुरुषकी ओर देखता रहा और मनमें उससे कहने लगा—'भाई, अगर इसे कुछ दे दोगे तो तुम्हारा कुछ घट नहीं जायगा!' मैंने देखा, वह मनुष्य उस महिलाको रोक रहा है। मैं सोचने लगा—'कहीं उसने मेरी बात सुन तो नहीं ली? शायद इसी कारण उसे रोककर कुछ अवश्य देगा!' जब उसकी आवाज सुनकर वह महिला रुकी तो उस भक्तने उसके पास जाकर धीरेसे कुछ कहा, जिसे सुनकर उस महिलाने उसे बड़ी जोरसे धक्का दिया और वह गिर गया। बात तो हमने सुनी नहीं, फिर भी जब हम दोनों उसके पास पहुँचे तो वे भक्तजी वहाँसे उठकर चल दिये थे। हमने वहाँ पहुँचकर देखा—उस महिलाके मुखपर क्रोध और घृणाकी एक लहर-सी दौड़ गयी है और आँखें भी लाल हो रही हैं। उसकी उम्र लगभग २५ वर्षकी रही होगी। इसलिए मैंने उसे 'बहन!' का

सम्बोधन करते हुए पूछा—'क्या बात थी, जो आप इतना क्रोध दिखा रही हैं ?' उसने उत्तरमें जो कहा, उसे सुनकर तो कानके पर्दे फटते गये। शायद आप भी इसे सुनकर आश्चर्य मानेंगे कि एक भक्त मनुष्य कभी ऐसा कह सकता है ? उस महिलाने मुझे बताया कि वह उससे कह रहा था : 'तू मेरे साथ चल और इस कोढ़ीको छोड़, मैं तुझे सब प्रकारसे आराम दूँगा। क्यों इसके साथ दुःखोंमें मरती है ?'

इस वाक्यको सुनकर वास्तवमें मेरा हृदय काँप उठा और उस मनुष्यके प्रति बहुत क्रोध आया। मैं कुछ कर तो सकता नहीं था, फिर भगवान्को अवश्य धन्यवाद दिया कि उसकी इस पवित्र पावन जन्मस्थलीमें ऐसे दुष्ट लोग निवास करते हैं ! बड़ी प्रसन्नताकी बात है ! मेरे पास उस समय पैसे होते तो मैं उसे अवश्य दे देता। लेकिन उसके भाग्यमें ही ऐसा था कि मैं उसको कुछ नहीं दे सका। मुझे बड़ा पश्चात्ताप हुआ। मैंने उससे क्षमा माँगते हुए कहा : 'बहन, मेरे पास इस समय कुछ नहीं है; इसलिए मैं आपको कुछ नहीं दे सकता।' इतना सुनकर मेरे मित्रको दया आ गयी और उसने एक पाँचका नोट निकाल कर उसके हाथमें दे दिया। उसे लेकर वह तो बहुत खुश हुई। साथमें वह कोढ़ी मनुष्य भी, जो उसका पति था, अपने उँगली-रहित हाथसे हम लोगोंको सलाम ठोंकने लगा ! उसको देखकर मेरी आँखोंमें आँसू आ गये, पर मैं उन्हें किसीके सामने जाहिर न करके छिपा गया। फिर हम लोग वापस घर लौट आये और कहीं भी दर्शन करने नहीं जा सके। मेरे मनको तो यह विश्वास-सा हो गया कि ये भगवान् स्वयं ही ऐसा रूप धारण करके इस पावन जन्मस्थानमें निवास करनेवाले इसी प्रकारके भक्त और प्रेमी सज्जनोंका निरीक्षण करने आये हैं, जिनसे अभी उनकी मुलाकात हुई थी और उस महिला द्वारा धक्का दिया गया था।

इस घटनासे मेरे मनमें कभी-कभी रोमांच-सा आ जाता है। ऐसा लगता है कि अगर वह व्यक्ति अब मेरे सामने आ जाय, तो मैं उसका खून पी जाऊँ ! हद हो गयी मनुष्यता और शराफतकी !

वह मनुष्य, जो एक 'राधेश्याम' नामसे अंकित दुपट्टा और मस्तकपर चन्दन लगाये 'हरे-हरे कृष्ण' जपता अपनेको भगवान्का भक्त कहता है, क्या वास्तवमें भक्त है ? क्या वह सचमुच मनुष्य भी है ? क्या इसी प्रकारके भक्तोंकी इस भौतिक जगत्में पूजा होती है। हाँ, यह सच है कि इसी प्रकारके भक्तोंकी पूजा होती है। किन्तु उस घटनासे उस तथाकथित भक्तका रूप मुझे तो एक राक्षससे भी बढ़कर गर्हित प्रतीत होता है। क्योंकि राक्षस तो अपना रूप दिखाकर ही सबको कष्ट देता है, लेकिन यह तो रूप छिपाकर धोखा देता है। उस भक्तका रूप देखकर मुझे कितनी ग्लानि हुई, इसका कहना मेरे लिए स्वयं लज्जाजनक है।

आज इस संसारमें कितने ऐसे भक्त हैं, गणना करना कठिन ही है। ऐसे धर्म तथा समाजके ठेकेदार, जो एक भक्त-जीवनका मुखौटा अपने ऊपर डाले हुए कितने ही गरीबोंका गला काटते हैं, यह कौन जानता है। हो सकता है, भगवान् जाने। इस प्रकारकी घटना देखकर

कौन ऐसा प्रेमी होगा, जिसकी आँखोंसे आँसूकी बूँद न गिरें और इस प्रकारकी मनुष्यता, भक्ति और प्रेम देखकर लज्जाका अनुभव न करे।

आप ही सोचिये कि आज इस जगत्में मनुष्यताकी परिभाषा क्या है? प्रतीत तो ऐसा होता है कि आज मनुष्यताका अर्थ झूठ, बेईमानी, पर-नारियोंपर कुदृष्टि, गरीबोंको सताना और आडम्बर-परिपूर्ण जीवन अपनाना ही है। इस भौतिक-जगत्में आज जो मनुष्य इन सबको अपनाता है, वह कभी भूखों नहीं मरता और ऐश-आरामसे रहता है। दूसरी ओर जो इन सबसे घृणा करता है और सत्य तथा ईमानदारीको अपनाता है, उसके लिए दो-दो रोटियोंके भी लाले पड़ जाते हैं। ऐसा क्यों होता है? इसका क्या कारण है? यह कब पता चलेगा, इसका उत्तर कौन देगा? मानव-रक्तके प्यासे मानव-तनधारी इन कामुक और लम्पट भेड़ियोंको हमारी संस्कृतिकी चीखें कबतक और सहन करेंगी? कबतक हमारी पीढ़ी इन पिशाचोंके दुर्दान्त दाँतोंको जबड़ोंसे नहीं निकालेगी? सोचता हूँ और सोचता ही रहता हूँ तथा मेरे कानोंमें बराबर रामधुनके मीठे स्वर गूँज-गूँज उठते हैं: 'रघुपति राघव राजा राम, पतित पावन सीताराम!' वह बिम्ब, वह निष्कलुष पावन कण्ठ आज भी क्या भुलानेकी वस्तु है।

●

कर्म किसे नहीं बाँधते?

कर्म प्रकृतिके गुणों द्वारा किये जाते हैं, किन्तु अहंकारसे मूढबुद्धि हुआ पुरुष अपनेको ही कर्ता मान लेता है; इसलिए वह कर्मफलोंसे बँधता है; भगवान्के कर्म उन्हें लिप्त नहीं करते; क्योंकि न तो उनमें कर्तापनका अभिमान है और न उनको कर्मफलमें स्पृहा है। जो भगवानके सम्बन्धमें इस बातको जान लेते हैं, वे भी कर्मोंसे नहीं बँधते हैं।

(गीता)।

मानसका पाठ

आ० सी० रा० च०

★

मानसकी जितनी भी प्रतियाँ मिलती हैं उन सबमें, चाहे वह राजापुरकी हो या श्रवणकुञ्जकी, १७०४ की हो या उससे पहले या पीछेकी छक्कनलालकी हो या भागवतदासकी, पाठ-भेदकी व्यापक विषमता प्राप्त होती है। ह्रस्व-दीर्घकी व्यापक अशुद्धियोंके अतिरिक्त एक ही शब्द कई-कई प्रकारसे लिखा हुआ मिलता है। श्रवणकुञ्जकी ही प्रतिके एक ही पृष्ठपर 'करौ, करहु, करउ' तीनों रूप मिलते हैं। इसके अतिरिक्त 'जो' और 'जेही' 'दादुर' और 'गादुर', 'परसि' और 'परस', 'बोलाई' और 'बलाई' आदि अनेक द्विविध तथा बहुविध रूप प्राप्त होते हैं। इनकी एकरूपताके निमित्त कोई भी सिद्धान्त स्थिर करनेसे पूर्व निम्नांकित तथ्य स्पष्टतः ध्यानमें रखने होंगे।

१. गोस्वामीजीने बड़ी लम्बी आयु प्राप्तकी थी।

२. उन्होंने संसारके समस्त श्रेष्ठ और विवेकशील लेखकों तथा कवियोंके समान अनेक वार अनेक स्थलोंपर मानसके पाठको अधिक प्रभावशाली तथा स्पष्ट करनेके लिए अथवा समकालीन विद्वानों, कवियों तथा भक्तोंके सुझावपर यथासमय अनेक संशोधन, परिवर्तन और परिवर्धन किये ही होंगे।

३. मानस लिखे जानेके पश्चात् ही उसकी प्रतिलिपियाँ होने लगीं। इस लम्बी अवधिमें जिन विभिन्न लिपिकारोंने विभिन्न कालोंमें जिस संशोधित और परिवर्तित प्रतिकी प्रतिलिपि की, उसके अनुसार पाठ-भेद स्वभावतः होता चला गया।

४. उन दिनों लोक-भाषा लिखनेकी कोई निश्चित वर्तनी नहीं थी और स्वयं गोस्वामीजी भी वर्तनी (शब्दके लिखित रूप) की एकरूपताके फेरमें नहीं पड़े। इसलिए एक ही अर्थवाला एक ही शब्द अनेक रूपोंमें लिखा प्राप्त होना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं।

५. कोई भी प्रतिलिपिकार विद्वान्, साहित्यकार या भाषा-विज्ञ नहीं होता था। इसलिए पाठोंमें प्रमाद होना अस्वाभाविक नहीं।

६. प्रतिलिपिकी प्रतिलिपिमें और भी अधिक अशुद्धियाँ व्याप्त हो गयीं।

७. गोस्वामीजी रससिद्ध कवि थे और उनका मानस दैवी-रचना है जो केवल महाकाव्यमात्र नहीं, वरन् ऐसा धर्मग्रन्थ है जिसका लोग अत्यन्त भक्तिके साथ परायण भी करते हैं। इसलिए उनकी रचनाका संशोधन करनेका दुस्साहस करना दुर्धर्ष धृष्टता, कोरी अहम्मन्यता और जघन्य अपराध है।

८. गोस्वामीजीके हाथकी लिखी कोई प्रति प्राप्त नहीं है। जिन प्रतियोंको गोस्वामीजीके हाथका लिखा बताया जाता है, उनकी प्रमाणिकता भी संदिग्ध है। ●
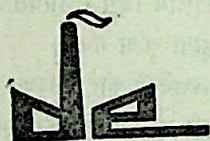
With Best

Compliments

From

★

Kamarhatty Company Limited

★

9, Brabourne Road

CALCUTTA

निगमामृत

(पुरुष-सूक्त)

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते ॥ ११ ॥

देवोंने जिस यज्ञ-पुरुषका किया कभी संकल्प-विधान,
उसके फिर कितने प्रकारके क्या-क्या अवयव रचे महान ।
मुख क्या था उस यज्ञपुरुषका, उसकी हुईं भुजाएँ क्या,
ऊरु-युगल भी क्या उसके थे, पाद-युगल कहलाये क्या ॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ १२ ॥

मुख ब्राह्मण था या उसके मुखसे ब्राह्मण उत्पन्न हुआ,
भुज क्षत्रिय थे या भुजसे ही क्षत्रजातिका जन्म हुआ ।
जाँघें वैश्य हुईं, जांघोंसे या वैश्योंका प्रादुर्भाव,
यज्ञपुरुषके युग - चरणोंसे हुआ शूद्रका आविर्भाव ॥

सूक्ति-सुधा

(भीष्मकृत स्तुति)

विजयरथ - कुटुम्ब आत्ततोत्त्रे
धृतहयरश्मिनि तच्छ्रियेक्षणीये।
भगवति रतिरस्तु मे मुमूर्षो-
र्यमिह निरीक्ष्य हता गताः स्वरूपम् ॥

पार्थ-रथके थे सगे सारथि सहायक जो
कर-अरविन्द चारु चाबुक सुहाता था,
घोड़ोंकी लगाम जिनके थी अभिराम हाथ
छबिसे उसीकी दर्शनीय रूप भाता था।
युद्धमें निहार जिन्हें मारे गये सैनिकोंको
उनके समान ही स्वरूप मिल जाता था,
उन भगवान्‌में मुमुर्षकी हो प्रीति मुझ
दर्श-हेतु जिनके हृदय ललचाता था ॥

[श्रीमद्भाग० १.९.३९]

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ मथुराके लिए देवधरशर्मा द्वारा आनन्दकानन प्रेस, ढुण्ढिराज, वाराणसी—१ में मुद्रित एवं प्रकाशित